हिन्दू धर्म्मभास्कर

प्रथम खण्ड ।

श्रीमार्कण्डेयप्रसादभट्टाचार्य्यप्रणीत ।

प्रथमावृत्ति

आगरा मून प्रेस में छापा गया—सन् १८   ई० ।

पुस्तक मिलने का पता—
नरही लखनऊ

मूल्य ॥६)

उत्सर्गपत्र

जो हिन्दी भाषा की उन्नति में सदैव तत्पर हैं जो सनातन हिन्दूधर्म के अभ्युदय में धृतव्रत हैं जो राजा होके भी स्वयं साधक हैं उन क्षत्रिय कुल गौरव महायशस्वी राजारुद्र प्रतापशाही हियरा-नरेश महोदय के पवित्र नाम में हम सनातन हिन्दू धर्म विषयक "हिन्दू धर्मभास्कर" पुस्तक का प्रथमखण्ड उत्सृष्ट करते हैं।

भवदीय शुभाकांक्षी

श्री मार्कण्डेयप्रसाद,

भट्टाचार्य्य।

सूचीपत्र ।

राज्य के स्वयं साधक राजा रुद्र प्रताप सिंहजी शाही महोदय ने इस पुस्तक के मुद्रापणार्थ जो आर्थिक साहाय्य किया है उस को हम कृतज्ञता के साथ स्वीकार करते हुए परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि राजा साहिब की धर्म्मानुष्ठान ही कल्याणकारी हो। यदि एतद्देशीय समस्त सज्जन पुरुष राजा साहिब की नाईं धर्मपिपासु हों तो भारत सन्तान का भाग्योदय होना सर्वथा सम्भव है॥

अनेक जन कहसते हैं कि भारत के इस दुर्द्दिन में धर्मविषयक पुस्तक के प्रणयन करने की क्या आवश्यकता है? इस के उत्तर में मैं इतना ही कहता हूं कि यदि सब लोग एक मत होकर अनुसन्धान करें तो जान सकेंगे कि भारत की अवनति का मूल कारण क्या है? देश के इस आदिमतत्त्व की समालोचना समुपस्थित होने पर प्रथम इतिहास की आवश्यकता है। भारतवर्ष की समालोचना करने के लिये उपस्थित होने पर यद्यपि आधुनिक भाव के इतिहास का एक प्रकार अभाव ही है तथापि उस की अपेक्षा अधिक विश्वस्त सूत्र अद्यापि भारत में वर्त्तमान है। भारतीय शास्त्र ही उस का प्रथम प्रमाण हैं। द्वितीय प्रमाण भारतवासियों का हृदय एवं स्वयं भारतवर्ष ही अपर एक आज्वल्यमान प्रमाण है। प्राचीन भारत के जिस किसी विषय के जो कुछ ग्रन्थ हैं सभी किसी न किसी प्रकार से एकमात्र धर्म का ही प्रतिपादन करते हैं। गणित ज्योतिष धर्म कार्य्य की सहायतार्थ रचित है। स्मृति धर्म रक्षार्थ ही समाज और राज्य में शासन विधि का निर्णय करती हैं। पुराण सकल धर्म शिक्षार्थ ही आविर्भूत हुए हैं, दर्शन शास्त्र धर्म ही की मूल निर्णय करते हैं, साहित्य में सर्वत्र धर्म की ही जय कीर्त्तित है। आयुर्वेद देखो, धर्म साधनार्थ ही शारीरिक रहस्य की व्यवस्था उस में की गई है। इसी प्रकार धर्म रहस्य, धर्म शिक्षा और धर्म साधन के लिये समस्त शास्त्र ही वेद को अपना आश्रय बनाए हुए स्थित हैं। धर्म छोड़ कर कोई बात कहने की इच्छा शास्त्रकारगण की नहीं होती थी। धर्म शून्य कार्य्य, धर्महीन राज्य, धर्मद्वेषी देश, धर्महीन

समाज, धर्मशून्य जीवन जानो वह लोग अनर्थक जानते थे। धर्मालाप व्यतीत कथा उन के चित्त में वृथा वितण्डा बोध होती थी। धर्मरक्षा के लिये ही युद्ध, धर्मसाधन के लिये ही विवाह और समाजबन्धन, एक धर्म ही को सहाय लेकर वह जीवन मार्ग में आते थे। धर्म के लिये विद्या शिक्षा और धनोपार्जन करते थे, सब अनुष्ठान ही उन के धर्मार्थ होते थे। धर्म ही उन के प्राण का प्राण, धर्म छोड़ कर वह मृत तुल्य, इस प्रकार के भाव का चित्र हम लोग शास्त्रालोचना द्वारा देख पाते है। विदेशीय आक्रमण एवं विदेशीय भाव के सिम्मिलण से भारत की गम्भीर प्रकृति की किञ्चित् विकृति होने पर भी इस समय भी उन के आचार, व्यवहार में धर्म की गन्ध रही है, अनेक विप्लव होने पर भी भारत जाति का वैदिक धर्म एक बार लुप्त नहीं हुआ। विदेशीय राज्य में भारतवासियों के हृदय पर अधिकार अति अल्प कर सके हैं। अन्य देश के प्राचीन धर्म ऐतिहासिक घटनामात्र होपड़े है, केवल भारतवासियों का धर्म ही सनातन काल से चला आता है। यदि अङ्गरेज लोगों का Survival of the fittest अर्थात् "श्रेष्ठ का अभ्युदय" यह सिद्धान्त सत्य है तो वह सनातन हिन्दू धर्म ही पर प्रयोज्य होसक्ता है। अज्ञतावश जो भारतवासी दूसरे धर्म की ओर आकृष्ट होते हैं उस का कारण जन्मान्तरीण और पुरुषानुगत धर्म प्रवृत्ति ही है। भारतवासियों की सत्ता के अनुकूल इस समय भी धर्मपिपासा संस्कारावस्था में विद्यमान है, इसी से नास्तिकता व विषय के मध्य में भी अनेक का एक २ बार सुप्त संस्कार उद्दीपित होता है। इसी से यौवन के उद्धत स्रोत की उच्छृंखलता के अन्त में अनेक लोग शान्ति के लिये सत्य सनातन धर्म का आश्रय लेते हैं। काश्मीर से लेकर कुमारिकाखण्ड पर्य्यन्त एकवार देखो, भारत के सकल स्थान ही पवित्र तीर्थमाला से शोभित हैं, भारत भूमि के खोदने पर भी यज्ञशाला और योग समाधि ही देखने को मिलती हैं, भारत की नदियों में चन्दनाक्त देवपूजा के पुष्पदल बहते देख पड़ते है, भारत

वर्ष की गिरि गुहाओं में इस समय भी योगस्थ महापुरुषों का दर्शन पाया जाता है, यह दृश्य और देशों में नहीं है। सुतरां जिधर देखो, जैसे देखो, भारत की प्रकृति ही धर्म के अनुगत है, धर्म ही भारत का निज धन है, अन्य समस्त कर्म ही भारत में धर्मार्थ हैं, इसी से भारतवर्ष ही धर्म की कर्मभूमि है। धर्म छोड़ देने पर भारत मृत तुल्य है। धर्म के प्रतिकूल चाहे जौन उन्नति का साधन क्यों न हो किन्तु वह भारत के पक्ष में प्राणहीन देह की सेवामात्र है, उस से भारत का कल्याण कभी न सिद्ध होगा॥

धर्मार्थ ही त्याग सम्भव है, नहीं तो धर्म त्याग कर राजनैतिक और सामाजिक वादविवाद में स्वार्थ शून्यता कहां ? धर्म का त्याग करने ही पर साम्प्रदायिक विवाद भी जाग उठता है। सुतरां धर्म हीन मलिन हृदय में निःस्वार्थ भाव नहीं स्थान पाता, इसी लिये धर्म के सिवाय अन्य किसी कार्य्य को सब लोग एकत्र होकर निःस्वार्थ भाव से नहीं कर सक्ते अतएव उस से स्वार्थ सिद्धि के लिये विवाद होवे होगा। एकमात्र धर्म एवं धर्मानुकूल वैषयिक कार्य्य ही एकता और सद्भाव की रक्षा कर सक्ते हैं। क्योंकि विषय में त्याग बुद्धि होती नहीं, केवल धर्म ही जीव के सकल सत्‌शिक्षा एवं स्वार्थ त्याग करने की शिक्षा देने को समर्थ है। त्यागी मनुष्य के सिवाय अन्य कोई कदापि समाज का उपकार नहीं कर सक्ता। देशोद्धार, समाज संस्कार, धर्मप्रचार आदि लोक हितकारी कार्य्य हैं, स्वार्थ-शून्य पुरुष के द्वारा ही ये कार्य्य सिद्ध हुए है, इस की साक्षी सब देशों के इतिहास देते है। धनी, राजा, महाराजा वा विषयी जनों के द्वारा यह कठोर व्रत नहीं पूर्ण होता। इस महत्कार्य्य की सामिग्री केवल धन ही नहीं है, इस के लिये हृदय की तेजस्विता चाहिये। हृदय के बल से साधारण दरिद्र धर्म प्रचारकगण सकल सुमहत्कार्य्य सम्पन्न कर सक्ते हैं। पाश्चात्य जगत् भी इस का ज्वलन्त दृष्टान्त स्थल है। आर्य्यगण के शासनकाल में भारतवर्ष में फलमूल खाने वाले वल्कलधारी ऋषिगण ही राज्य के नियामक थे; समाज

शासन, शिक्षा विस्तार वही करते थे, राजा और धनाढ्यगण उन के कार्य्य की सहायता करके कृतार्थ होते थे। सुतरां त्यागशील पुरुष दरिद्र होने पर भी इस महत् कार्य्यके साधन में समर्थ हैं। किन्तु हृदय की यह तेजस्विता एकमात्र धर्म के ही लिये उद्दीपित होती है; वैषयिक चेष्टा में ऐसा आग्रह होना असम्भव है। लोक के प्राण स्वभावत धर्म के लिये ही रोते है एवं धर्मके लिये ही लोग प्राणतक देसक्ते हैं—इस का निदर्शन धर्म ही देता है॥

भारत में धर्म की उन्नति के प्रसङ्ग में ब्राह्मणगण को जागना होगा। ब्राह्मणगण! तुम इस समय अपने को भूले हो। तुम्हींने एक दिन भारत समाज का, केवल भारत ही का क्यों, समस्त मानव समाज का कल्याण साधन क्या नहीं किया? तुम्हारे ही तप के प्रभाव से भारत क्षेत्र में स्मृति का विकाश हुआ, तुम्हीने वेदव्यास रूप से वेद का संग्रह और विभाग किया; तुम्ही कपिल, कणाद, गौतम, जैमिनि प्रभृतिरूप से वेद का मर्म्म दर्शन शास्त्र द्वारा प्रतिपादित कर गये हो, तुम्ही मार्कण्डेय, दत्तात्रेय आदिरूप धारण करके पुराण और तन्त्रादि का प्रचार कर गये हो, तुम्ही मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि होकर स्मृति का विधान कर गए हो; तुम्ही शुक्राचार्य्यादिरूप से राजनीति व समाजनीति की व्याख्या कर गए हो, पाणिनि आदि रूप धर कर प्राच्य विज्ञान का मर्मोद्भेद कर गए हो, तुम्ही भगवान् वाल्मीकि और कृष्णद्वैपायनरूप धारण करके जगत् में यथार्थ कवित्व की अवतारणा और पराकाष्ठा दिखा गए हो। क्या तुमने यह सब नहीं किया? नृपतिगण तुम्हारे ही निकट अस्त्र शिक्षा करते थे। तुम्हारे ही द्वारा चिकित्सा शास्त्र, गणित शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र आदि शास्त्र निचय जगत् में प्रचारित होते थे। तुम्हीं जगत् में ज्ञान और विद्या का निर्म्मल प्रस्रवण खोल गए हो। तुम्हीने इस मर्त्यलोक के साथ देवलोक और पितृलोक के संयोग का विधान करते हुए मध्यस्थ स्वरूप तीन लोकों का ही मङ्गल विधान किया है। तुम्ही आर्य्य क्षत्रिय के अप्रतिहत बल वीर्य्य

को, आर्य्य वैश्य की अतुल विषयविभव को एवं आर्य्य शूद्र की अक्लान्तश्रम को ज्ञान और धर्म में परिणत करके आर्य्य समाज के पुण्यस्रोत को अव्याहत रक्खा था। किन्तु कलियुग की कलुष—अमानिशा के प्रगाढ़ अन्धतम में ब्रह्मण्य—शक्ति चन्द्रमा की जगत्स्निग्धकरशीतरश्मि आज जगत् के भाग्य में दुर्लभ है। जिस अन्धकार में ब्रह्मण्यशक्ति ही अनन्य आलोक प्रभा है, जिस मार्ग में ब्रह्मण्यशक्ति ही एकमात्र मार्ग दिखलाने वाली है, जिस समाज में ब्राह्मण ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्वर्ग के देने वाले कल्प वृक्ष का प्रतिष्ठाता है, क्षीण ब्रह्मण्य तेज का दुर्ब्बल साहाय्य लेकर वह समाज, उसी कलिकलुषतिमिराच्छन्न एवं अवश्यगन्तव्य साधन पथ में किस प्रकार अस्खलित पैर रखता हुआ अग्रसर होगा? संसार सागर में ब्राह्मणकुल ही एकमात्र हिन्दू समाज नौका का कर्णधार है, ब्राह्मण ही विराट् हिन्दू समाजरूप शरीर का महा-महिमान्वित शिरोदेश है, ब्रह्मण्य तेज ही हिन्दू समाज के बन्धन, रक्षण, पोषण और परिवर्द्धन का मज्जागत शक्तिस्वरूप है। हिन्दू के रत्नरचित सिंहासन का क्षत्रिय राजा है किन्तु हिन्दू के हृदय—सिंहासन का राजा ब्राह्मण ही है। राज्यैश्वर्य्य, राजवेश और राजदण्ड लेकर क्षत्रियकुल हिन्दू के बाह्य जगत् के शासन में नियुक्त है किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों के अन्तर्जगत् के राज में वही जटावल्कलधारी, फलमूलाहारी, विजनवनान्तर वा गिरिगह्वरविहारी निस्पृह, निरीह ब्राह्मण ही चिरकाल से पूजित अद्वितीय अधीश्वर है। हिन्दू समाज यन्त्र के चक्र चक्र में, हिन्दू समाज देह के स्नायु स्नायु में—प्रत्येक रक्त बिन्दु के अणु व परमाणु में जो ब्रह्मण्यशक्ति का अप्रतिहत प्रभाव अद्यापि देदीप्यमान है वह यदि ब्राह्मणगण की अलसता और औदास्य निबन्धन से विध्वस्त और विपर्य्यस्त होगया तो हिन्दूत्व की उसी श्मशान भस्म से, हिन्दू के उसी शवस्तूप से न जाने कौन विकट कबन्ध निचय उत्थित होगा धर्म्म रसातल को जायगा—समाज छिन्न भिन्न होजायगा। अतएव

हे ब्रह्मण्यदेव। तुम भारत की हितकामना से फिर जाग्रत् होओ, तुम्हीं भारताधिष्ठात्री देवता हो, भारत हृदय तुम्हारे लिये आज भी व्याकुल है। इस समय पूर्व के न्याय आप्त वचनों के प्रमाण से हम लोगों को समझा देने से नहीं चलेगा, परन्तु विंशशताब्दी की वैज्ञानिक युक्ति के साथ सामञ्जस्य करके हम को समझा देवे कि तुम्हारा आचार तत्त्व, तिथितत्त्व, प्रायश्चित्ततत्त्व इत्यादि आर्य्य धर्म्म के मूलतत्त्व समूह का मर्म्म क्या है? ब्रह्मण्यदेव! तुम आर्य्यगण की हितकामना से फिर जाग्रत् हो—आर्य्य समाज से रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य दूर हो; ज्ञानानन्द से, प्रेमानन्द से, विषयानन्द से फिर आर्य्यगण का मुख उद्भासित होता रहै—फिर जगत् देखे कि देह, मन और आत्मा के अनुकूल सभ्यता किसे कहते हैं, दान व धर्म्म की पराकाष्ठा क्या है और तपोबल से असाध्य हो क्या है, यथार्थ वीरता और मनुष्यत्व किस को कहते है। इन्हीं सब कामनाओं से हम तुम्हारा बारम्बार उद्बोधन करते हैं। तुम्हारे जागरित होने से त्रितापतप्त मानव हृदय और मन व प्राण शीतल होजायंगे, नीरस जीवन सरस होउठेगा। मोह मन्दराचल में लुक्कायित निभृत नित्यानन्द निर्झरिणी से सुखसुधा की धारा निकल कर आप की विश्व, ब्रह्माण्ड को आनन्द से आप्लावित कर देगी। तब तड़िन्मयी शक्ति के सञ्चार से संसार ज्वाला से जड़ीभूत, विषय विष से जर्ज्जरित, और मोह की मूर्च्छा से अचेतन मानवों के मन और प्राण, सतेज और सचेतन होंगे, साधन महाशक्ति के महागर्ज्जन से आकाश और पाताल परिपूर्ण होंगे, भारत की महामूर्च्छा दूर होजायगी; तब हिमालय से कुमारिका खण्ड पर्य्यन्त समुद्र, सनातन धर्म्म की जयध्वनि आकाश पर्य्यन्त परिपूर्ण होगी॥

नरही लखनऊ, २४ दिसम्बर सन् १९ ई०	श्री मार्कण्डेय प्रसाद भट्टाचार्य्य।

हिन्दू लोगों को क्या जानना चाहिये ?

प्रथम अध्याय ।

धर्म्म ।

मनुष्य जन्म परम दुर्लभ है। महात्मा शङ्कराचार्य्य का वचन है—

श्लोक। जन्तूनां नरजन्मदुर्लभमतः पुंस्त्वंततोविप्रता तस्माद्वैदिक धर्म्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात्परम्। आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मनासंस्थितिर्मुक्तिर्नोशतजन्मकोटिसुकृतै पुण्यैर्विना लभ्यते ॥१॥

अर्थात् प्राणियों को मनुष्य जन्म दुर्लभ है, उससे पुरुष जन्म, उससे ब्राह्मण कुल में जन्म, उससे वैदिक धर्ममार्ग में प्रवृत्ति, उससे विद्वान् होना, उससे आत्मा अनात्मा की विवेचना, उससे आत्मज्ञान, यह सब उत्तरोत्तर दुर्लभ है एवं सब से बढ कर ब्रह्म में लीन होना जिस को मुक्ति कहते हैं वह शत जन्म के कोटिश पुण्यों के विना नहीं मिलती ॥

जीवगण अनेक चेष्टा और यत्न एवं क्लेश करके अनेक कठिन से कठिन कार्य्य करलें किन्तु मनुष्यजन्म पाने के लिये सबकार्यों की अपेक्षा अधिकतर प्रयत्न करना होता है। संसार के अनेक कार्य्य सिद्ध करने के समय केवल शरीर का परिश्रम, मन की एकाग्रता और आवश्यक मत उपाय संपूर्ण, इन का अवलम्बन करना होता है किन्तु मनुष्य देहके लाभ के लिये अधिकाधिकयत्न, प्रगाढ़ अध्यवसाय, और दृढ संकल्प की आवश्यकता है। एक ठौर देह की प्रकृति त्याग करके तिस के बाद प्रकृति का मनुष्योचित प्रवृत्ति की ओर कठिन आग्रह पूर्वक प्रवृत्त होना, थोडे परिश्रम का काम नहीं है। मरण-कालपर्य्यन्त मन की एकाग्र इच्छा जैसे विषय और व्यापार का अवलम्बन करता है, यह जीव मरने के बाद वैसीही प्रकृति को प्राप्त होता है। कीट, पतङ्ग, पक्षी, पशु आदि की देहसे प्रकृति स्फुरणपूर्वक मनुष्य शरीर का लाभ अत्यन्त दुर्लभ और सुकठिन है। किन्तु ऐसे

दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर प्राणी प्राय: भोग विलास ही में निरत रहते हैं। परलोक के परिणाम की ओर भूल कर भी नहीं देखते। पारलौकिक उन्नति साधन करने में इन्द्रिय संयम की आवश्यकता है एवं उसी संयम के गुण से आयु आरोग्य बल वीर्य्य चित्त की स्थिरता मानसिक सुख अन्त करण की पवित्रता एवं आत्म ज्ञान में वृद्धि उत्पन्न होती है। किन्तु हमलोग मनुष्यलोक के जीव, नरक के कीट, भोग विलास के लोलापट, अज्ञान के गुरुतर भाण्डार हैं अतएव अकलङ्क पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र तुल्य आत्मज्ञान में कलङ्क की रेखा अङ्कित करते हैं, निष्पाप वैराग्य में पाखण्डता का अभिनय देखते हैं, धर्म्ममय जीवन में ज्ञानरूप प्रकाश के बदले घोर अन्धकार देखते हैं, ईश्वर प्रेम के बदले कठोरता की जवित प्रतिमूर्ति देखते हैं, और अमृतमयी शान्ति के बदले ज्वलन्त अग्निकुण्ड का दर्शन करते हैं। वास्तव में जो लोग धर्म नीति की चर्चा नहीं करते, वैराग्य बन में विहार करने के लिये जिन के प्राण उत्कण्ठित नहीं होते, इस कोलाहल परिपूर्ण संसार भूमि त्याग करके नि:शब्द स्थान में शान्त भाव से साधना करने की वासना जिन के हृदय में अंकुरित नहीं होती, उन के लिये इस प्रकार की धारणा किंचित् असम्भव नहीं है। जितने दिन मनुष्य का हृदय अपवित्रता से पूर्ण, कुटिलता सेवित, विषयतृष्णा से आच्छादित, इन्द्रियरूप वायु के आघात से घूर्णित एवं गर्वरूप घोर अन्धकार से समावृत रहेगा, जितने दिन हृदय कन्दरा में सरलतारूप सूर्य प्रकाशित न होगा, जितने दिन इस मलीन हृदय से अविश्वासरूप कलङ्क तिरोहित न होगा, जितने दिन अज्ञान कलुष दूर न होगा तितने दिन आत्मज्ञान का उदय भी न होगा। मनुष्य समाज को एकवार ध्यान देकर देखो, देखोगे कि आध्यात्मिक उन्नति ही सब उन्नतियों का सार है। समाज की जब नितान्त आदिम अवस्था होती है तब समाज अशिक्षा और असभ्यता से परिपूर्ण होकर अज्ञानरूप अन्धकार में डूबा रहता है, तब शारीरिक बल की ही विजयवार्ता सर्वत्र घोषित होती है " जिस के

ओर उस का देश"। तदनन्तर जब समाज कुछ तदपेक्षा और उन्नति को प्राप्त होता है तब धन का सम्मान बढता है, धन का बल शारीरिक बल के ऊपर अपना अधिकार जमाता है। तब "किस प्रकार धन की प्राप्ति हो?" मनुष्य इसी चिन्ता में डूबा रहता है, विलास करने की इच्छा और बाबुयाना ठाठ की भी वृद्धि होउठती है। यही सामाजिकी भक्ति का दूसरा स्तर है। फिर तदपेक्षा जब समाज और कुछ उन्नति को प्राप्त होता है तब मनुष्यगण विद्या का सम्मान और उच्चचिन्ता का आदर करना सीखते हैं, तब लक्ष्मी का पराभव सरस्वती द्वारा होता है। यही सामाजिक उन्नति की तृतीय अवस्था है। इसी अवस्था के बाद सामाजिक उन्नति की चतुर्थ अवस्था या अन्तिम अवस्था होती है। इस चतुर्थ अवस्था में मनुष्य देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अतीव चिन्मय आत्मा के अस्तित्व का अनुभव करना सीखता है। सामाजिक उन्नति की अन्तिम अवस्था के समय आध्यात्मिक उन्नति के साधनार्थ जो संपूर्ण उपाय, रीति, नीति और पद्धति का अवलम्बन किया जाता है उसी का नाम "धर्म्मानुष्ठान" है। इसी धर्म्मानुष्ठान ही के गुण से मनुष्य को यथार्थ मनुष्यत्व का लाभ होता है। संपूर्ण इन्द्रियों के वेग का रोकना, शत्रुवर्ग (काम क्रोध लोभ मोहादि) को वश करना, अन्तःकरण शुद्धि का साधन, सब जीवों में समदृष्टि, अभिमान का त्याग आदि मनुष्यत्व लाभ के प्रधान उपादान है। इन्हीं को अधीन करने में समर्थ होते ही ब्रह्मज्ञान स्वयमेव उद्भासित होता है। तब जल स्थल अन्तरिक्ष जीव मृत्ति का पाषाण वृक्ष ग्रह तारा चन्द्र सूर्य्य पर्वत प्रांतर गह्वर में और जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में सर्व्वत्र सब अवस्थाओं में भगवान् की विभूति देख पड़ती है। ईश्वर के जानने के लिये शास्त्र में तीन प्रकार के मार्ग प्रदर्शित हैं १ कर्म्म, २ ज्ञान, ३ भक्ति। सब में प्रधान कर्म्म मार्ग है। विना कर्म्म किये चित्त की शुद्धि नहीं हो सक्ती एवं विना चित्त शुद्धि के ईश्वर के मिलने की आशा कहां? ज्ञान भी कर्म्म के विना नहीं होसक्ता। किन्तु कोई २ कहते हैं कि

कर्म्म का परित्याग करके ज्ञान का आश्रय ग्रहण करो, सहज में मुक्ति मिल जायगी। और कोई २ भक्ति मार्ग का अवलम्बन करके वर्णाश्रम धर्म्म कर्म्म और ज्ञान को छोड़ कर "हरेर्नामैवकेवलम्" कह कर उपदेश देते हैं। हिन्दू के निकट ज्यों हरि का नाम आदर की वस्तु है वैसे ही वर्णाश्रम धर्म्म कर्म्म और ज्ञान आदर की वस्तु है, इन में कोई भी त्यागने योग्य नहीं है। तब जो लोग "धर्म्मानुष्ठान" का उपदेश देते हैं वह विशेष करके यह सिद्धांत मन में रखते हैं कि हिन्दू के लिये वेदशास्त्र ही प्रधान आप्तोपदेश है और तदनुयायी स्मृति आदि शास्त्र ही धर्म विषय में अवलम्बन करने योग्य हैं। कपोल कल्पित धर्म्म अग्राह्य है। वेद और तदनुगत स्मृति शास्त्र ईश्वर की आज्ञा है, इन के उल्लंघन करने में जो व्यक्ति प्रवृत्त होता है वही ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला है एवं ईश्वरद्वेषी है अतएव शास्त्र के मत में वह नरकगामी होता है (१) जिस का जैसा धर्म्म शास्त्र में कहा गया है उस का वही कर्त्तव्य है, यही शास्त्र का उपदेश है। वर्णाश्रम धर्म्म त्याग करने से हिन्दू का धर्म्म साधन नहीं होता। भगवद्गीता में भगवान्ने कहा है—

स्वेस्वेकर्मण्यभिरत संसिद्धिं लभते नर।
यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्व्वमिदं ततम्॥
स्वकर्म्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:।

अर्थात् परमेश्वर ने जिस का जो धर्म्म कहा है वह व्यक्ति उसी धर्म्म में आसक्त होकर कर्म्म करने से परमपद को प्राप्त होता है, जिस्से सब तत्वों की सृष्टि है एवं जिस के द्वारा यह सब जगत् व्याप्त है ऐसे विश्वव्यापक परमेश्वर को, उसी की आज्ञा के अनुसार कर्म्मानुष्ठान करके सम्मानित करने से जीव परमपद को प्राप्त होता है। वर्णाश्रम धर्म त्याग करने योग्य नहीं है, यह विशेष करके बतलाने के लिये भगवद्गीता में अन्य स्थान पर उक्त है—

---

(१) श्रुतिस्मृतीममैवाज्ञे यस्तु उल्लंघ्यवर्त्तते।
आज्ञाच्छेदी ममद्वेषी नरकं प्रतिपद्यते॥ (वराहपुराणम्)

स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावह ।

अर्थात् अपने २ धर्म्म में परम दुःख होने पर भी अन्त में परम सुख होता है, एवं पराया धर्म्म भयदायक है ॥

यही संपूर्ण शास्त्र और युक्तियों से अधिकार भेद करके धर्म्म भिन्न २ सिद्ध है। यह संपूर्ण धर्म्मानुष्ठान का प्रधान उद्देश्य परमेश्वर की आज्ञा का पालन है। ब्राह्मण आदि वर्ण निज २ कर्म्मानुष्ठान द्वारा ईश्वर की आज्ञा का पालन करें, परमेश्वर सम्मानित होकर उन का अभीष्ट और परम पद देता है। यह भी भगवद्गीता में कथित है, यथा—

यो यो यां यां तनु भक्त. श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
सतया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च तत कामान् तयैव विहितान्हितान् ॥

अर्थात् जो २ उपासक जिस २ तनु को अपने धर्म्म के अनुसार आराधना करने की इच्छा करता है, मैं उस की उसी धर्म्म विषय में श्रद्धा की वृद्धि करता हूं। यह श्रद्धासमन्वित भक्त अपने धर्म्म के अनुसार जो ईश्वर की आराधना करता है उस आराधना के कारण मै उस का अभीष्ट सिद्ध करता हूं ॥

इस समय देखा जाता है कि धर्म्म करने में वर्णाश्रम धर्म्म का उल्लंघन करना ठीक नहीं है। तदनन्तर कर्म्मकाण्ड की कथा है। कर्म्म ही ईश्वर ज्ञान की मूल भित्ति है। एक कर्म्म के आयत्त करने से ज्ञान और भक्ति आदि जो कुछ बलहैं सभी आजायंगे। भगवान्ने गीता में कहा है—

न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

अर्थात् कर्म्म के न करने से ज्ञानलाभ नहीं होता, एवं कर्म्म त्याग करने से भी सिद्धिलाभ नहीं होसक्ता। इस वचन से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि तादृश ज्ञान के लिये कर्म्म ही साधन है। सत्य

है "ज्ञानाग्नि सब कर्म्मों को दग्ध करता है" किन्तु ज्ञान होते न होते ही कर्म्म त्याग कर गीता का ऐसा अभिप्राय है "शरीरधारीमात्र विना कर्म्म किये क्षणमात्र भी नहीं रहसक्ते" "भ्रमवश कर्म्मत्याग करने से प्रकृति बल और जाति कुल स्वभाव के गुणसे पुनर्वार उसी कर्म्माचरण में प्रवृत्त होना होता है" "कर्म्म संन्यासी ही ज्ञानसंन्यासी हो सक्ता है" "कर्म्म त्यागी चोर के न्याय अपराधी है" इत्यादि गीता के सत्य आख्यानों से यही प्रतीत होता है कि हमलोगों को कर्म्म नहीं त्याज्य है। अपिच "लोक रक्षा के निमित्त ज्ञानीगण एवं चित्त शुद्धि के हेतु योगीगण भी कर्म्मानुष्ठान करें, कर्म्म के त्याग को कर्म्म त्याग नहीं कहते किन्तु कर्म्म फल के त्याग को ही "कर्म्म त्याग कहते हैं" इत्यादि प्रमाण से कर्मयोगी और ज्ञान-योगी दोनों के पक्ष में जब कर्मत्याग की विधि नहीं है तब कर्म त्याग करना उत्तमता वा विद्वत्ता का परिचायक नहीं है। कर्म्मा-नुष्ठान त्याग करने से उपासना का अधिकार नही होता। विधि पूर्व्वक उपासना न करने से चित्त की शुद्धि नहीं होती एवं चित्त शुद्धि के विना ज्ञान के उदय की संभावना नहीं है एवं एतद्रूप वेदस्मृति आदि के अनुगत विधि के अनुसार आचरण न करने से ब्रह्मज्ञान वा मुक्ति की आशा कहां? और यद्यपि देखा जाता है कि कर्म न करके और तद्द्वारा विगत कल्मष विना हुए लोक ज्ञान मार्ग में उन्नति को प्राप्त हुए हैं तथापि यह होने से या इस्से फल क्या है? श्रुति कहती है—

नाविरतोदुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित।
नाशान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात॥

कठः। वल्ली २ मं० २३॥

अर्थात् जिस व्यक्तिने कुकर्म त्याग नहीं किया, जिसने इन्द्रियों की चञ्चलता को शांत नहीं किया, फल की कामना से जिस का चित्त स्थिर नहीं होसका, वह व्यक्ति केवल ज्ञानद्वारा परमात्मा को प्राप्त नहीं होसक्ता॥

तदनन्तर भक्तिमार्ग की कथा। "हरेर्नामैवकेवलम्" इसी मंत्र को जीवन का सार करने में भी आत्मसंयम की आवश्यकता है। गीता में कथित है—

तानिसर्व्वाणिसंयम्य युक्त आसीतमत्परः।

२ य अध्याय ६१ श्लोक॥

अर्थात् सर्व्वेन्द्रियदमनपूर्व्वक मत्परायण होकर अवस्थान करे। यदि ईश्वर परायणता का नाम भक्ति है तो वह भी केवल इन्द्रिय दमन करने ही से सुसाध्य है। इन्द्रिय दमन भी सहज नहीं है इस में भी कर्म की अपेक्षा है॥

ब्रह्मज्ञान सहज नहीं है। यह परम हंस ही का धर्म है। ऋग्वेद की अनुक्रमणिका में लिखित है—

"ब्रह्मानुष्ठानं परमहंसस्यैव धर्मः।"

ब्रह्मज्ञान का अनुष्ठान परम हंस ही का धर्म है। ईदृश विषय विरक्त व्यक्ति का धर्म संसार के दोषों से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्ति को सहज में मिल सक्ता है, ऐसा कहना या ऐसा करने की चेष्टा करना अज्ञानता का परिचय देता है। ब्रह्मतत्त्व क्रीड़ा, विलास की सामग्री नहीं है, जिस को कि वक्तृता और गान करके कोई लाभ करसके। युग युगांतरों मे निर्जन वन में कठोर तपस्या तत्पर योगी गणों को दुर्ज्ञेय, दुराराध्य, दुष्प्राप्य नित्य जीवनमय परम परात्पर परमरत्न परमात्मा को किसी समय बातों में कथाओं में नहीं पाओगे। उचित नहीं वृथा विडम्बित और प्रतारित होकर कल्पित धर्मकूप मे पड़ कर बहुमूल्यमानव जन्म को वृथा न करना। यदि अनायास ब्रह्मलाभ होसके तो योगीगण कभी गिरि कन्दराओं में शीत वात आतप के असह्य क्लेश को सह्य करके युग युगांतर में तपस्या न करते। यदि विना परिश्रम ब्रह्मलाभ होता तो उस के लिये जीवनोत्सर्ग न करते। सकाम साधना का नाम "धर्मजिज्ञासा" है। निष्काम साधना का नाम "ब्रह्मजिज्ञासा" है। अतएव सांसारिक व्यक्ति को प्रथम धर्मजिज्ञासा ही श्रेयस्कर है। वेदांत दर्शन का प्रथम सूत्र कहता है—

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।" १। वेदांत।

अर्थात् कर्मकाण्ड के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करते हैं।

वेद का मर्म्माशय यही है कि जबतक कर्मकाण्ड रक्खोगे तब तक गृहस्थ धर्म में स्थित होकर कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि होगी अर्थात् जगत् को अनित्य अनुभव करने के पश्चात् संसार धर्मत्याग करके दण्ड ग्रहणपूर्व्वक ब्रह्मज्ञान का अनुष्ठान करोगे। ब्रह्मज्ञानानुष्ठान के अर्थ शून्य मन्दिर में समवेत होकर ईश्वर की करुणा अपनी ओर आकर्षण करने के अर्थ प्रार्थना करके धर्म जीवन की उन्नति साधना के लिये प्रयास करना नहीं होता अथवा ऊंचे स्वर से कीर्तनादि करना नहीं होता। आजकल की ब्रह्मोपासना पाश्चात्य भजन का अनुकल्प या अनुकरणमात्र है। सत्य है, ब्रह्मज्ञान संपूर्ण ज्ञानों की अपेक्षा श्रेष्ठ है तब वचनमात्र के ब्रह्म ज्ञान को आत्म प्रवञ्चनामूलक कहकर आर्य्य महर्षिगण इस प्रकार के ज्ञान के पक्षपाती न थे। यथार्थ ब्रह्मज्ञानी देश काल पात्रादि की अपेक्षा नहीं रखता और वात वर्षा शीत आतप आदि से विचलित नहीं होता एवं काम क्रोध लोभादि के अधीन नहीं होता। 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' इस भांति की धारणा जिस के हृदय में बद्धमूल है वह संसार में सम्मान लाभ के लिये लालायित नहीं होते। अपना है पराया है इस भांति की भेद बुद्धि के वशवर्ती होकर अपने परिवार के सुख और स्वतंत्रता की वृद्धि के हेतु चेष्टा नहीं करते, एवं सुख दुःख हर्ष अमर्ष मान अपमान प्रभृति से उद्विग्न होकर असन्तुष्ट वा व्यथित नहीं होते। यथार्थ ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति स्थित प्रज्ञ (१) एवं स्थित धी (२) होते है। किन्तु सुख सम्मान प्रभुत्व की लालसा की आंधी से जिन

---

(१) प्रजहाति यदाकामान्सर्वान्पार्थ। मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ गीता।

(२) दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ गीता।

का मन निरन्तर क्षोभ को प्राप्त है, स्वजन कुटुम्ब के लालन पालन की चिन्ता से जिन का मन सदा अस्थिर है, जिन को प्रबल इन्द्रिय सुख साधन के लिये विलासिता के नित्य नवतरंग भंग में भासमान है, जिन का आत्मा और मन वासना समुद्गत निविड़धूमपुंज में अन्धीभूत होरहा है, जो आशाभङ्ग मे व्यथित होते हैं, अपमान में अतिक्रुद्ध होते हैं, बदला लेने में दृढ़व्रत हैं उन असमदर्शी असंयतात्मा भोगविमूढ मनुष्यों के ब्रह्मज्ञान को वाचालताविभिन्न और क्या कहेंगे ? जिस तीव्र साधना के बल से मनुष्य इस देवदुर्लभ ज्ञान का अधिकारी होसक्ता है, उस साधना के मार्ग को त्याग करके सब नरों के सुखसाध्य ब्रह्मविषयक थोडेसे वाक्यों का उच्चारण ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के विषय में पर्य्याप्त नहीं है, आर्य्य महर्षिगण इस प्रकार के उद्भट ब्रह्मज्ञानी को उपेक्षा की ही दृष्टि से देखते हैं। यहां तक कि कर्मेन्द्रिय समूह को वश करके जो व्यक्ति मन ही मन मे इन्द्रिय सुख साधन के विषय को स्मरण करता है उस को भी कपटाचारी कहकर घृणा की दृष्टि से देखते है (१) तथापि उन्होंने कर्मेन्द्रिय समूह को वश कर लिया है। किन्तु जिन्होंने किसी इन्द्रिय को वश नहीं किया, वरं इन्द्रियों का दासत्व ही करके जो सुख का अनुभव करते हैं, उन के मुख विवर से निकले हुए ब्रह्मवाद को सन्निपातग्रस्त रोगी के प्रलाप के अतिरिक्त और क्या कहेंगे ? इस भांति का ब्रह्मवाद लोकशिक्षा के प्रतिकूल और संयम शिक्षा का बाधक एवं स्वेच्छाचारिता का उत्पादक है॥

ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने के लिये कर्मभिन्न हिन्दू को अन्य गति नहीं है। सिद्ध महात्मागण निरूपित नियम और निषेध निचय की मर्य्यादा का उल्लंघन करने से आर्य्य जाति का धर्म साधन नहीं होसक्ता। तत्त्ववेत्ता महर्षियों की आज्ञा का उल्लंघन करना धर्म्मार्थी

(१) कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ गीता।

लोगों के लिये महापाप है। आर्य्य जाति की अस्थिमज्जा में यही सुसंस्कार बद्धमूल होरहा है॥

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारत:।
न ससिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वाशास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्त्तुमिहार्हसि॥
भ० गी० १६ श अ०।

जो व्यक्ति शास्त्रविधि परित्याग करके स्वेच्छापूर्व्वक आचरण से धर्म का साधन करता है, वह व्यक्ति सिद्धि को नहीं पासक्ता, उसे इस लोक में सुख वा परलोक में मुक्तिपद नहीं प्राप्त होता। अतएव शास्त्र प्रमाण के अनुरूप कार्य्य अकार्य्य को जान कर शास्त्र विधानोक्त कर्म के ही अनुष्ठान में प्रवृत्त होगो॥

यज्ञ दान तप अथवा हमलोगों के दशविध संस्कार एवं देव पितृ उत्सव मात्र का ही कर्म शब्द से ग्रहण है, यदि गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि क्रियापर्य्यन्त दश ठौर संस्कार और जल सत्रदान से नीलोत्सव एवं नित्यकर्म, शौच, स्नान, सन्ध्योपासना, जप, होम, अतिथि सेवा पर्य्यन्त कर्मकाण्ड परित्याग कर दिया जाय, तो समाज में नास्तिकता एवं नैमित्तिक कर्मत्याग के कारण जाति कुल आश्रम त्याग के दोष से वर्णसङ्करता की प्राप्ति अनिवार्य्य होउठेगी और हिन्दू नाम लोप होजायगा। इसी कारण गीता मे कथित है—

यज्ञदानतप: कर्म न त्याज्यं कार्य्यमेवतत्।
यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

हम लोगों की चिरकाल से आचरित प्रणाली का अनुष्ठान करके हम लोगों की अपेक्षा विद्या, बुद्धि, बल, ऐश्वर्य्य, ज्ञान और तेज सम्पन्न महात्मा जनकादिक भी सिद्धि को प्राप्त हुए हैं (१) उस चिराचरित प्रणाली का उल्लंघन करना युक्तियुक्त एवं समुचित

---

(१) कर्म्मणैवहि संसिद्धिमास्थिताजनकादय:।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्त्तुमर्हसि॥ गीता।

नहीं है। मनुष्य जब देहाभिमान हीन होता है तब कर्मत्याग का अधिकारी होता है, किन्तु जबतक देह में अहंबुद्धि रहेगी तबतक वेदविहित कर्म का अनुष्ठान करना ही पडेगा (१) जबतक नदी के उस पार नहीं जाता तभीतक मनुष्य नौका को खोजता है, किन्तु नदी पार जाने पर फिर नौका का प्रयोजन नहीं रहता; उसी प्रकार कर्म्मानुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि, इन्द्रियसंयम, मानसिक शान्ति के अधिकारी होने पर कर्म्मानुष्ठान परित्याज्य हो सक्ता है (२) नहीं तो नहीं॥

थोड़ासा ध्यान करके देखने से हम स्पष्ट जानसक्ते हैं कि जैसे बाल्यजीवन में हम लोगों को शिक्षा है वैसे ही धर्मजीवन में भी शिक्षा है, जिस से चित्तशुद्धि, इन्द्रियसंयम, धारणा, अनालस्य, अनुसन्धित्सा प्रभृति का जन्म होता है। वह शिक्षा क्या है? सो आगे कहते हैं। मनुष्य जैसे विश्वस्रष्टा की एक ठौर चमत्कारिणी सृष्टि जो चित् और जड़ है उस का एक अपूर्व समन्वय है वैसे ही उस की धर्मजीवन शिक्षा भी अतिचमत्कार है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन, राग, द्वेष आदि तो सब ही प्राणियों मे है। इन की अधिकता जिस मनुष्य में जितनी अधिक है वह उतना ही पशुतुल्य है किन्तु इन सब का संयम जिस में जितना अधिक है वह उतना ही मनुष्य है। यह चित् जड़ समन्वित दो प्रकृति के मानवों के सच्चह अङ्ग हैं। वह सच्चह अङ्ग पाच ठौर कोष में विभक्त है। यथा—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। प्राणमय कोष पञ्चप्राण वायु एवं पञ्चकर्मेन्द्रिय का समन्वय है। पाच कर्मेन्द्रिय यथा—वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ;

(१) यावच्छरीरादिषु माययात्मधीस्तावद्विधेयाविधिवादकर्म्मणाम्।
नेतीतिवाक्यैरखिलं निषिध्यतत् आत्मापरात्मानमथत्यजेत्क्रियाः॥
श्रीमद्रामगीता।

(२) नावर्थीहि भवेत्तावद्यावत्पारं न गच्छति।
उत्तीर्णेतु सरित्पारे नावा वा किम्प्रयोजनम्॥ उत्तरगीता।

पञ्चप्राणवायु यथा—प्राण, समान, उदान, अपान, व्यान और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। प्राणमय कोष क्रिया शक्तिमान् एवं कार्य्यरूप है। मनोमय कोष मन एवं कर्मेन्द्रिय समूह समन्वय सृष्ट है। सङ्कल्प विकल्पात्मिका अन्तःकरण वृत्ति का नाम मन है एवं उक्त पञ्चकर्मेन्द्रिय; मनोमय कोष इच्छा शक्तिमान् एवं कार्य्योत्पादन का कारण है। विज्ञानमय कोष पञ्चज्ञानेन्द्रिय एवं बुद्धि के समन्वय से उत्पन्न है। निश्चयात्मिका अन्तःकरण की वृत्ति को बुद्धि कहते हैं एवं पञ्चज्ञानेन्द्रिय—चक्षु, कर्ण, जिह्वा, नासा और त्वचा यह हैं। यह विज्ञानमय कोष ही ज्ञानशक्तियुक्त एव कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि अभिमान का उत्पन्न करने वाला है। संक्षेपतः मनुष्य के यही शारीरिक उपादान हैं। मनुष्य साधारणतः आहारादि द्वारा अन्नमय और प्राणमय कोष को सबल और क्रियाशील करें आहार का भी और विशेषत्व है। जिस के द्वारा सात्त्विक प्रकृति का उदय हो वही सुभक्ष्य है। मनोमय कोष का अधिष्ठाता मन का विकल्प विभ्रम है; किन्तु सङ्कल्प विकल्पभाव के रहते यथार्थज्ञान असम्भव है। अतएव हिन्दूलोगों के धर्मजीवन का विराट् आयोजन है। धैर्य्य, उपपत्ति, स्मरण, भ्रान्ति, कल्पना, क्षमा, वैराग्यादिसत्, राग द्वेषादि असत्, एवं अस्थिरत्व (१) आदि मानसिक गुण सब ही अविवादितभाव से स्वीकार करते है। भ्रान्ति, अस्थिरता आदि असत्गुणों को निर्बल विना किये क्षमा, वैराग्य, धैर्य्य आदि सद्गुणों का पूर्ण विकाश होना दुस्तरही नहीं वरं असम्भव है। अरश्मिसंयत+ अश्व की भांति मन सदा विषयों की ओर धावित होता है, अतएव मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है (२) इसी कारण

(१) धैर्य्योपपत्तिर्व्यक्तिश्चविसर्पः कल्पनाक्षमा।
सदसच्चाशुताचैवमनसो नव वैगुणाः॥

(२) मनएवमनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धस्य विषयासंगि मुक्तेर्निर्विषयं तथा॥

\+ जो लगाम के अधीन नहीं है।

मन की प्रवृत्ति को निर्मल करने के लिये कुछ क्रियाओं की आवश्यकता है। वह क्रिया ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि। क्रोधादि त्यागपूर्वक अहिंसादि व्रतधारण का नाम यम है। नियम भी दो भांति का है एक बाह्य दूसरा आन्तरिक। (१) उपवास, स्नानादि बाह्य नियम के अन्तर्गत हैं और शौच सन्तोषादि आन्तरिक नियम के अन्तर्गत हैं। उपवासादि द्वारा इन्द्रिय दुर्बल होती हैं, स्नान अनुलेपन आदि के द्वारा रूक्षता दूर होती है एवं शौच सन्तोषादि द्वारा चित्त की स्थिरता और शुद्धि उत्पन्न होती है। आसन कर चरणादि स्थापन विशेष का नाम है। जिस प्रकार के भाव से उपवेशन करने में बहुत समय तक स्थिर भाव से स्थित हुआ जाय, वही प्रशस्त आसन है। जैसे व्यायाम करने से देह की पुष्टि एवं कान्ति बढ़ती है वैसे आसन विशेष से उपवेशन करने में देह की स्थिरता एवं मन की शान्ति होती है। अन्तस्थर वायु ही इन्द्रियादि के विकार का मूल है। अन्तस्थर वायु के निरोध ही का नाम प्राणायाम है। वायु के निरोध से इन्द्रियों की शक्ति शिथिल होती है। अग्निपरिशुद्ध पर्वत की धातु के न्याय देह मलमुक्त होता है (२) चित्त की स्थिरता उत्पन्न होती है एवं मन ध्यान धारणा के योग्य होता है। प्राणायाम द्वारा वायु शरीर के भीतर संचित होता है; इसी रुद्धवायु से अग्नि प्रकटती है एवं उस अग्नि से जल प्रकटता है। इन्हीं तीन भांति के उपायों से संपूर्ण शरीर की शुद्धि होती है (३) वायु से अग्नि और अग्नि से जल की उत्पत्ति सुन कर कोई

---

(१) नियमाः पञ्च सत्याद्या बाह्यमाभ्यन्तरं द्विधा।
शौचन्तुष्टिश्च सन्तोषस्तपश्चेन्द्रियनिग्रहः॥
स्नानमौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहः॥ गरुड़पुराणम्॥

(२) यथापर्वतधातूनां दोषादह्यन्ति पावकात्।
तथेन्द्रियकृतादोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्॥ मा० पु०।

(३) निरोधाज्जायते वायुस्तस्मादग्निस्ततोजलम्।
त्रिभिः शरीरं सकलं प्राणायामेन शुध्यति॥ अ० पु०।

महाशय इस बात को कल्पना की क्रीड़ा न समझें। इस में कविता नहीं है, इस में कर्म्मानुष्ठानजनित अभिज्ञता ही देदीप्यमान है। कृतकर्म्मा व्यक्तियों होने इस बात को ग्रन्थों में लिखा है अर्थात् यह अनुभव की हुई कथा है। अन्तश्चर वायु समूह के निरोध से रुधिर की गति भी रुकजाती है। जिस स्वाभाविक ताप से रक्त की गति नियंत्रित होती है; शोणित गति के रुकजाने पर वही ताप शरीर के भीतर अवरुद्ध होकर भाफ को उत्पन्न करता है। फिर प्राकृतिक नियम से ताप फैलने के द्वारा वही भाफ जल का आकार धारण करके शरीर और मन को शान्त वा शीतल करती है। प्राणायाम भी दो भांति के हैं एक सबीज दूसरा अबीज। प्राणवायु को वश करके भगवत्प्रतिमाका ध्यान और मन्त्र जप सहित प्राणायामको सालम्बन सबीज प्राणायाम कहते हैं (१) सबीज सालम्बन प्राणायाम ही आध्यात्मिकी शिक्षा के पक्ष में उपादेय एवं शुभकर है। संस्थित चित्त विजितेन्द्रिय योगी को अबीज अनन्तालम्बी प्राणायाम के अनन्तर इन्द्रियों को स्वस्वविषय से निवृत्त करके अन्तराभिमुख आकर्षण करना होता है। यही प्रत्याहार नामक साधना का प्रसिद्ध अङ्ग है (२) ईश्वररूप के चिन्तनार्थ ध्यान ध्येय विषय में मन के स्थिर बन्धन के निमित्त धारणा है। दुष्प्रधर्ष इन्द्रियगण के निग्रहार्थ इस प्रकार विराट् आयोजना है। इसी भांति महारथी आत्मा बुद्धि

(१) प्राणाख्यमनिलंवश्यमभ्यासात्कुरुतेहियत्।
प्राणायामः सविज्ञेयः सबीजोऽबीज एवच ॥
तस्यचालम्बनवतः स्थूलरूपं द्विजोत्तम।।
आलम्बनमनन्तस्ययोगिनोऽभ्यासतः स्मृतम् ॥ वि० पु०।

(२) शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्य्याच्चित्तान्तकारीणि प्रत्याहारपरायणः॥ वि० पु०।

अपिच ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः समाहृत्यस्थितोहिसः।
मनसा सहबुद्ध्याच प्राणाप्राणेषुमस्थितः॥ ग० पु०।

रूप सारथी की सहायता से मनरूपरश्मि द्वारा इन्द्रियरूप अश्वों को अधीन करके जड़ प्रकृति के विजय में समर्थ होता है एवं संसार कारागार की बन्धन भीति से मुक्तिलाभ करके पूर्णानन्द का उपभोग करता है (१) साकार के उपासकों का भी यही मार्ग है, योगियों का भी यही मार्ग है। इसी मार्ग में यथार्थ आन्तरिक बल अर्ज्जन किया जाता है जिस आन्तरिक बल के न होने से मनुष्य मनुष्यभाव धारण करने ही में असमर्थ होता है वा सामान्य पशुओं के धर्म के पालन करने में प्रस्तुत होता है। यह मार्ग छोड़ कर पाश्चिमात्यसभ्यता के अनुकूल एक अभिनव प्रणाली अवलम्बन करके आन्तरिक बल का संचय किसी समय नहीं होसक्ता वरं जीव जगत् के दुरपनेय अनादि इन्द्रियजाल के मुख में आबद्ध होकर इन्द्रिय निचय की पूर्ण प्रबलता से मनुष्यजाति को पशुजाति की अपेक्षा अधिकतर अज्ञानमय, अवसादमय, दुःखमय एवं न जाने किस दुरन्त अवस्था मे लेजायगा उस की कल्पना करने से भी हृदय कांप उठता है। पारलौकिक सुख की आशा वा निर्व्वाण सम्पत्ति की बलवती प्रत्याशा जिस सभ्यता की मूलभित्ति नहीं है उस सभ्यता के द्वारा मनुष्यजाति का मानसिक बल बढ सक्ता है—यह बात सम्भव नहीं है। कारण उस का यह है कि जिस का नाम आन्तरिक सामर्थ्य है, जिस की सहायता से मनुष्य मनुष्यसम्प्रदाय में रहकर भी देवयोग्य सिंहासन पर अनायास बैठ सक्ता है, जिस के प्रसाद से संसार में द्वेष्यद्वेषक भाव एकबारगी विलीन होजाता है, जिस सम्पदा का अधिकारी इस लोक में यथार्थ स्वतंत्रता का सुख अनुभव करके कृतकृत्य होसक्ता है, उसी का नाम यदि आन्तरिक बल है तो ऐसा होने से मुक्तकण्ठ होकर कहाजासक्ता है कि यह दृश्यमान

---

(१) आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेवच॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषुगोचरा:।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ श० पु०।

जो पाश्चिमात्य सभ्यता है वह आन्तरिक बल अर्ज्जन करने में एकांत असमर्थ है वरं वह आंतरिक बल का एक दुर्निवार्य्य विघ्न है—ऐसा कहने से भी अत्युक्ति न होगी! जिस सभ्यता के सुख में प्रियत्वबुद्धि प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होती है, जिस सभ्यता की सहायता से विषय की आसक्ति वृद्धि को प्राप्त होकर मनुष्यजाति को ग्रास करने पर उद्यत होती है, वह सभ्यता मनुष्य की आंतरिक शक्ति को प्रशस्ततर करेगी—यह आशा सुदूरपराहत है वरं मनुष्यजाति के अधःपतन के मार्ग को प्रतिदिन प्रशस्ततर करेगी, इस में कोई सन्देह नहीं है। अनन्तवर्षों के अनन्तअध्यवसाय की सहायता से युग युगांतरव्यापी कठोर क्लेश उठाकर, संसारी संपूर्ण जीवों के प्रिय सुहृद और संसार के दुःख से स्वयं व्याकुल हृदय एवं संपूर्ण पवित्र व स्पृहणीय चरित्र आर्य्य ऋषिगण इस अज्ञान समुद्र की दुःखमय तरङ्गावली से व्याकुलित प्राण मनुष्यजाति का यथार्थ लक्ष्य और वास्तव स्वाधीनता दिखाकर, जो संपूर्ण अव्यभिचारित उपाय समूह का आविष्कार कर गए हैं, वही उपाय समूह और विषयों की अनुसन्धित्सा भी, उत्प्लावक युगधर्म के अप्रतिहत प्रभाव से आजकल के सभ्यजगत् में "उन्मत्त की बुद्धि" कहकर उपहास को प्राप्त होते हैं। नरजाति की यथार्थ स्वाधीनता के मार्ग में कांटा रूंधने वाले आसुरिकभावोन्मत्त सभ्यनाममात्रधारी विप्लावक मनुष्यगणों में, वही युगसहस्रव्यापिनी और निःस्वार्थ लोकहितैषणा प्रयुक्त तीव्र तपस्या के फल से आविष्कृत एवं मनुष्य की यथार्थ स्वाधीनता की रक्षा करने वाली प्राचीन सभ्यता के प्रति, विद्वेषबुद्धि दिन २ अधिक भाव से वर्द्धित होती है—इसलिये यथार्थ चिन्ताशील मनुष्य के हृदय में विषमविषमयी ज्वाला उत्पन्न हो वा न हो, इस से हम उतना क्लेश नहीं अनुभव करते! किन्तु जब देखते हैं, उसी सभ्यता की जन्मभूमि, उसी आर्य्य सभ्यता का परम पवित्र लीलाक्षेत्र, उसी आर्य्य सभ्यता के आविष्कारक आर्य्य ऋषिगण के हृदय का धन थे ही पवित्र भूमि भारतवर्ष है—यह कहते लज्जा करते हैं, उसी

आर्य्यजाति का पवित्र रुधिर इस समय भी जिन की धमनी में बहता है, उसी आर्य्यजाति ही की आविष्कृत सभ्यता के ही अवलम्बन से आज भी जो लोग जगत् में समाज बन्धन से अवस्थिति करने में समर्थ होते हैं, उसी आर्य्यजाति के सन्तान कहकर जो अपना परिचय देते हैं अतएव आजकल सभ्य समाज के बीच असभ्य जाति में नहीं गिने जाते ; वही उसी जगत्पूज्य कुल में जन्म लेने वाले अथच निजकुल के माहात्म्य से अनभिज्ञ पूर्वपुरुषद्वेषी अधम अज्ञान प्रकृति भारतीय आर्य्य सन्तानगण, आज उन्मत्त प्राय होकर यथार्थ कुलाङ्गार का मार्ग प्रशस्त किये देते हैं, पितृ पुरुषगण की अनन्त तपसंचित सभ्यता के उच्छेद करने में सब की अपेक्षा आपही अग्रसर होते हैं! यह कहते हृदय विदीर्ण होता है! आर्य्यसभ्यता किस को कहते हैं, यह विना जाने, और आर्य्यसभ्यता जानने के लिये किस उपाय का अनुष्ठान कर्तव्य है, इस का भी अनुसन्धान विना किये, आर्य्यसभ्यता के अधिकारी प्राचीन मनुष्यों का कार्य्य स्रोत, उत्साह प्रवाह, चिन्ता का वेग किस मार्ग में कैसे भाव से प्रधावित होता था—यह थोड़ासा भी विनाजाने, अकातरभाव से सर्वसाधारण के सम्मुख निर्लज्ज होकर उन्हीं आर्य्यों के सन्तान, अब निजपूर्वजों की रीति नीति और व्यवहार निचय के प्रति निरन्तर गालिवर्षण करके विदेशीय लोगों के निकट अपनी सुपुत्रता प्रकट करने के लिये प्रयत्न करते हैं, उस समय सत्य सत्य ही इच्छा होती है कि हे धरणि! तुम दो खण्ड होजाओ ज्ञान प्रकाश की सर्व प्रथम उत्पत्ति भूमि इस पवित्र भारतवर्ष में पिशाचगणों का यह विकट व्यवहार देखा नहीं जाता!

पशुगण की स्वाभाविक प्रवृत्ति निचय के साथ मनुष्यजाति की जो समग्र प्रवृत्ति निचय समानभाव से मनुष्यजाति में उत्पन्न होकर मानवीय आत्मा को दुःख का आधार बनादेती हैं उन्हीं संपूर्ण प्रवृत्तियों का दमन जबतक मनुष्यजाति नहीं कर सकेगी तबतक मनुष्य, यथार्थ पशुभाव दूर करके यथार्थ मानवीय स्वाधीनता के

सुख का आस्वादन न करसकेगा। विदित होता है कि यह बात कोई अस्वीकार न करेगा। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य्य ; यही कई एक प्रवृत्ति यथार्थ पशुभाव व्यंजक हैं। रजोगुण समुद्भूत इन प्रवृत्तियों में समासक्त मनुष्य के लिये शान्ति सुख, मरुभूमि की आतपमृगतृष्णामात्र है। उक्त राजस प्रवृत्तियों को पूर्णतया विना दमन किये जीवन में शान्तिलाभ होना नितान्त असम्भव है। विशुद्ध आहार, पवित्र संसर्ग, पारलौकिक चिन्ता, अनिन्दित वार्तालाप, नियमित इन्द्रिय सेवा और मनोवेगदमन, इन्हीं संपूर्ण व्यापारों की सहायता विना, उक्त राजस प्रवृत्तियों का दमन किसी भांति नहीं होसक्ता, एवं इन राजस प्रवृत्तियों के विना पूर्णतया दलित हुए अनन्त दुःख प्रद अशांतिमय अवस्था से परित्राण पाने की मनुष्य जाति की कोई सम्भावना नहीं है॥

पाश्चात्य सभ्यता के अन्तस्तत्त्व में जिन की बुद्धि विशेषरूप से प्रविष्ट है, आदि से अन्तपर्य्यन्त पाश्चात्यसभ्यता की अनुक्रम अवस्था जिन के मानसपट में सर्वदा अङ्कित रहती है, वह लोग पवित्र सत्य की अविवाद सम्मान रक्षा करके सभ्यता के प्रकाश्य आपण में दण्डायमान होकर मुक्तकण्ठ से कहें, देखें पाश्चात्यसभ्यता के सहाय से दु खदायक राजस प्रवृत्तियों का दमन क्या होसक्ता है? काम क्रोध आदि मानसिक दुर्जय शत्रु निचय को दमन करने के लिये पाश्चात्यसभ्यता आजतक जगत् में कोई नूतनयंत्र का आविष्कार करने में समर्थ हुई है? यदि यह नहीं है, जीवन के प्रथम श्वास से अन्तिम श्वास पर्य्यन्त यदि अशांति की तीव्र यंत्रणा से क्षणभर के लिये उद्धार पाने की आशा ही नहीं है, सांसारिक दुःख मिश्रित तुच्छ सुख के लाभ के लिये ही यदि जीवन का समस्त समय दुःसहकार्य्य करते ही करते व्यतीत हुआ, सामान्य पशु के न्याय काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य्य वृत्ति के दास होकर समग्र जीवन यदि हाहाकार करते ही कटा, तो कहो देखें यह बाह्य चाकचिक्यमय पाश्चात्य सभ्यता ग्रहण करके यथार्थ

मनुष्यत्वाभिलाषी मनुष्य का क्या उपकार लाभ होसक्ता है ? अनन्त यंत्रणामय कार्य्यभार वहन करते करते ही यदि मृत्युशय्या में शयन करना हुआ, नि स्वार्थ परोपकारिता, निरवच्छिन्न शमसुखका अनुभव परलोक के पवित्र विश्वास के लिये सुखमय उत्साह, यदि एक दिन के लिये भी हृदय में स्थान को न प्राप्त हुआ! तो बोलो देखें हे पाश्चात्य सभ्यता की चिरकाल से उपासना करने वालो! तुम्हारी इस भांति की सभ्यता की इतनी प्रशंसाध्वनि, शांतिप्रयासी यथार्थ सभ्य सन्तानगणों के कर्ण में किस कारण से तीव्र ज्वाला न उत्पन्न करेगी ? तुम्हारी इस सभ्यता का नाम सुन के उन का हृदय क्यों न कांप उठेगा !!!

थोड़ासा ध्यान करके देखने से यही प्रतीत होता है कि इस प्रत्यक्ष परिदृश्यमान विचित्र विश्व संसार के अन्तर्बाह्य दोनों स्तरों में स्थित पदार्थ निचय के सार निष्कर्ष का आदर्श एकमात्र भारत क्षेत्र ही मे एकाधाररूप से विराजमान है। भारत की प्रकृति ही जगत् की प्रकृति का आदर्श है, भारतनिवासी मनुष्य ही संपूर्ण मानवजाति का आदर्श हैं, भारत का ज्ञान समग्रज्ञान का आदर्श है। अनन्ततत्त्व; अनन्तभाव और अनन्त पदार्थों की विचित्रता एवं नित्य विचित्रतामयी धरणी की चित्रशालिका ("जादूघर") ही भारत भुवन है। यह बात कहने से हम जानते हैं कि अत्युक्ति न होगी कि पृथ्वी में एक भारत ही जीव के अमृतत्व और परलोकतत्त्व सम्बन्धी उज्ज्वल सिद्धान्त का आकर स्थान है। इस स्थान के ऋषियों के गम्भीरज्ञान से पारलौकिक सत्य विकसित हुआ है, एवं पुराकाल में एक भारत होने उक्त गम्भीर सिद्धान्त विविध धर्म और दर्शन शास्त्र से संयुक्त होकर पूर्वदिशा के आकाश मण्डल को प्रकाशित किया था। इस समय भी ज्ञानस्पर्द्धित यूरोप भक्ति से नम्रमस्तक होकर भारत को अभिवादन करता है। किन्तु जिस समय ही भारत की पूर्वकीर्त्ति हम लोगों के स्मरणपट में उदय होती है उस समय वस्तुत हमारे मन में यही प्रश्न उठता है कि यही भारत

है। बहुदिन से भिन्न भिन्न धर्म वाले राजाओं के शासनाधीन रहना, आर्य्यशास्त्र की यथार्थ व्याख्या का अभाव, बाल्यकाल से आर्य्य धर्म्मानुकूल रीति नीति की शिक्षा देने में त्रुटि, समय २ में आर्य्य धर्म के प्रचुर प्रचार का अभाव, गुरु पुरोहितगणों की अकृतविद्यता, चित्त की अप्रशस्तता, स्वार्थपरता और धर्मज्ञान विहीनता, संस्कृत भाषा के प्रति अनुराग का न होना विविधकारणोंने भारत के धर्म जीवन में घोर विप्लव लाकर उपस्थित कर दिया। मिशनरीगण समय देखकर शास्त्र का मर्म विना जाने आर्य्य धर्म की वृथा निन्दा करके अशिक्षित लोगों के मन को और भी कलुषित करते हैं, शास्त्रज्ञान वर्जित बालकों के कपाल में आग लगती है। उन के स्कन्ध में नास्तिकता आश्रय करती है, कुकर्म उन के कण्ठ की माला होते हैं, मनुष्य जीवन का संपूर्ण उद्देश्य भोगविलास की इच्छा में परिसमाप्त होता है। वारुणी वारांगनाओं की सेवा में उन की लज्जा नहीं है। राक्षसाचार, पश्वाचार, व्यभिचार, यथेच्छाचार उन की दृष्टि में दूषणीय नहीं है। जिस सभ्यता समाज में अनिवार्य्य व्यभिचार, स्वार्थपरता, स्वतंत्रता, विशृंखलता, खलता, अनैक्य आदि पुञ्जायमान विघ्नराशि आकर फैली है, जो मायाविनी सभ्यता सब लोगों को शिश्नोदर परायणता के बीजमंत्र में दीक्षित करती है हम उस को सभ्यता कहना नहीं चाहते। जो सभ्यता केवल विषय-स्पृहाही को बलवती करती है, जिस सभ्यताने धर्म को हृदय से हटा कर रसना के विलास की वस्तु बनादिया, जो सभ्यता विकट हास्य के विकाश से सत्यस्वरूप परमात्मा को भी उड़ादेना चाहे, हमलोग ऐसी सभ्यता के पक्षपाती नहीं हैं, आर्य्य ऋषि जो जानते थे हम भी वही जानना चाहते हैं, वह लोग जो करते थे हम भी वही करना चाहते हैं। अब और उपेक्षा करने का समय नहीं है। उपेक्षा के अत्याचार से हिन्दू जाति का सर्वनाश होगया, धन सम्पत्ति गई, ज्ञान गरिमा गई, स्वाधीनता रत्न ठगलिया गया। इस समय भी जो एक ठौर जातीयसत्ता है, जातीय पवित्रता है, वह

भी उपेक्षा करने से नष्ट न होजाय। अब भी मार्ग है, इस समय भी आर्य्य ऋषिगणप्रणीत शास्त्रसमूह विद्यमान हैं, अब भी उसी मार्ग से चलो। उसी मार्ग से चलने में अनन्तशान्ति पाओगे, अनन्त उन्नति लाभ करोगे। अतएव भ्रातृगण! आओ, धर्म को शिर पर धारण करके आर्य्य ऋषियों को पथप्रदर्शक करके और अध्यवसाय अवलम्बन करके एवं हिन्दू सदाचार को जीवन का मूलमंत्र करके उसी मार्ग में चले॥

शास्त्रप्रणेता लोग धन वा यश की कामना से सकल शास्त्र प्रणयन नहीं करते। भ्रम प्रमादशून्य, रागद्वेष रहित, तपस्योद्भासितमना बिना हुए आर्य्य ऋषियों के समान कोई भी धर्मशास्त्र प्रणेता नहीं होसक्ता। इन संपूर्ण पुरुषों के लेख के ऊपर अविश्वास का कारण क्या है? वह लोग शुद्धसत्त्वमानस होकर फलमूल भोजन करके "इस चिरजीवन में सत्य क्या है?" यही जानने के लिये तपस्या करते थे, विधाता का ऐसा पक्षपात कि वहलोग सत्य का सन्धान न पासके, परन्तु घोर विषयी, मद्यपान से सदा चञ्चल मन वाले, दो एक घण्टा भी एकत्र ध्यानाभिनिवेश में असमर्थ इस भांति के सब पुरुषोंने थोड़ीसी चिन्ता करके सत्यलाभ कर लिया—इस बात पर कैसे विश्वास किया जाय? हम हिन्दू हैं, सुतरां हम लोगों का धर्मशास्त्र सब धर्म सम्बन्ध में परम प्रमाण है। इसी प्रकार पूजनीय ऋषि महर्षिगणों के प्रति संशय स्थित रहने से "संशयात्मा-विनश्यति।" यह गीता का वाक्य अन्त में हृदयङ्गम होगा। अतएव आओ, हम लोग संशयच्छेद करके श्रद्धायुक्त होकर शास्त्र प्रदर्शित मार्ग से धर्म का अनुगमन करें। धर्म के न्याय मधुरपदार्थ विश्व में अन्य नहीं है। मानव आत्मा का चिरदिन पर्य्यन्त अक्षय रहने वाला धन ऐसा अन्य नहीं है एव अनन्तकाल का सुहृद भी ऐसा नहीं है। एक धर्म के आपन्न होने से अर्थ काम और मोक्ष स्वयमेव सम्मुख उपस्थित होते हैं। महाभारत में कथित है—

विद्यावित्तंवपु शौर्य्यं कुलेजन्म विरोगिता ।
संसारोच्छित्तिहेतुश्च धर्म्मादेव प्रवर्त्तते ॥१॥
शब्दे स्पर्शेच रूपेच रसे गन्धेच भारत । ।
प्रभुत्वंलभतेजन्तुर्धर्मस्यैतत्फलं मतम् ॥२॥
अर्थसिद्धिंपरामिच्छन्धर्ममेवसमाचरेत् ।
नहिधर्म्मादपैत्यर्थं स्वर्गलोकादिवामृतम् ॥३॥
धर्मं चिन्तयमानोऽपि यदिप्राणैर्वियुज्यते ।
तत· स्वर्गमवाप्नोति धर्मस्यैतत्फलं विदु ॥४॥
येऽर्थाधर्मेण ते सत्या येऽधर्मेणाधिगस्तुतान् ।
धर्मंवैशाश्वतं लोके न जह्याद्धनकाङ्क्षया ॥५॥
धर्म्मादर्थश्चकामश्च सकिमर्थं न सेव्यते ॥६॥
उत्सवादुत्सवंयान्ति स्वर्गात्स्वर्गं सुखात्सुखम् ।
श्रद्दधानाश्चशान्ताश्च धनाढ्या धर्मकारिण ॥७॥
धर्म प्रज्ञां वर्द्धयति क्रियमाण· पुन पुन ।
वृद्धप्रज्ञस्ततो नित्यं पुण्यमारभतेपरम् ॥८॥

महाभारत अनेक स्थान ।

विद्या, धन, शौर्य्य, कुलीनता, आरोग्य एवं संसारनिवृत्ति का उपाय तत्त्वज्ञान भी धर्म ही से है ॥१॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषय में प्रभुता धर्म का फल है ॥२॥ परम अर्थ सिद्धि की इच्छा करके धर्म्माचरण सदा करे। स्वर्ग लोक से अमृत के न्याय धर्म से धन अपगत नहीं है ॥३॥ धर्मचिन्तवन करते २ यदि दैवसंयोग से चिन्तकव्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होवे तथापि धर्म चिन्ता के फल में स्वर्ग प्राप्त होगा—पण्डितलोग इसी प्रकार धर्म का माहात्म्य जानते हैं ॥४॥ धर्म द्वारा जो धन उपार्ज्जित होता है वही सत्य (प्रशंसनीय) है। अधर्म द्वारा उपार्जित धन निन्दित है। इसी कारण धन के लिये पुरातन धर्म त्याग न करना चाहिये ॥५॥ धर्म से अर्थ और काम प्राप्त होते हैं अतएव धर्म का सेवन क्यों नहीं करते ॥६॥ धर्म्मानुष्ठान करने वाला क्रमशः उत्कृष्ट उत्सव, स्वर्ग और उत्तरोत्तर सुख को

प्राप्त होता है एवं श्रद्धान्वित शान्तस्वभाव और धनाढ्य होता है ॥७॥ धर्मप्रज्ञा को बढ़ाता है, प्रज्ञा बढ़ने से परमपुण्य मुक्तिमार्ग भी प्राप्त होता है ॥८॥

धर्म्मात्सुखञ्चज्ञानञ्च धर्म्मादुभयमाप्नुयात् ।
तस्मात्सर्व्वं परित्यज्य विद्वान् धर्मं समाचरेत् ॥१॥
धर्म्मात्सञ्जायतेह्यर्थोधर्मात्कामोऽभिजायते ।
धर्म्मादेवपरंब्रह्मतस्माद्धर्मं समाश्रयेत ॥२॥

स्कन्दपुराणे ।

धर्म से सुख और ज्ञान लाभ होता है, धर्म से लौकिक पारलौकिक सकल फल होते हैं, अतएव विद्वानलोग और सब त्याग करके धर्म्माचरण करते हैं ॥१॥ धर्म से क्रमशः ज्ञान, अर्थ और काम प्राप्त होते हैं एवं धर्म से परब्रह्म प्राप्त होता है इसी से सर्व्वथा धर्म का ही आश्रय करै ॥२॥

व्यास —कामार्थोलिप्समानस्तुधर्ममेवादितश्चरेत् ।
नहिधर्मोद्भवकिञ्चिद्दुष्प्राप्यमिति मे मति ॥१॥
निपानमिवमंडूका सर पूर्णमिवाण्डजाः ।
धर्मकर्म्मागामायान्ति विवशाः सर्व्वसम्पद ॥२॥

काम और अर्थ की इच्छावाला व्यक्ति प्रथम धर्म्मानुष्ठान करै। धर्म द्वारा कोई वस्तु दुष्प्राप्य नहीं है, यही हमारा (व्यास का) सम्मत है ॥१॥ मंडूक जैसे कूपसमीपवर्ती जलाशय को और पक्षिगण जैसे जलपूर्ण सरोवर को प्राप्त होते हैं वैसे सकलसम्पत्ति धर्म्माधिकारी व्यक्ति के वशीभूत होकर उस के निकट प्राप्त होती है ॥२॥

मानुष्यं य समासाद्य स्वर्गमोक्षप्रदायकम् ।
द्वयोर्नसाधयत्येकं समृतस्तप्यते चिरम् ॥१॥
यावत्स्वस्थशरीरत्वं तावद्धर्मं समाचरेत् ।
अस्वस्थश्चोदितोनान्यत् किञ्चित्कर्त्तुं समुत्सहेत् ॥२॥

आदित्यपुराण ।

स्वर्ग मोक्षप्रदायक मनुष्यजन्म लाभ करके जो दोनों में एक की भी साधना नहीं करता, वह मरने के पश्चात् दारुणपश्चात्ताप-ग्रस्त होता है ॥१॥ अतएव जितने दिन शरीर स्वस्थ है तबतक धर्म्माचरण करो, वृद्धावस्था में अस्वस्थ शरीर होने पर कोई कर्म करने का उत्साह मन में नहीं होता ॥२॥

विष्णु का कथन है—

युवैवधर्ममन्विच्छेदनित्यं जीवितं यत ।
कृतेधर्मेभवेत्कीर्तिरिह प्रेत्य च वै सुखम् ॥१॥
यथेक्षुहेतोरपिसेचितं पय-
स्तृणानिवल्लीरपिचप्रसिञ्चति ॥
तथा नरोधर्मपथेन सञ्चरन्
सुखञ्च कामानिवसूनि चाश्नुते ॥२॥

तरुण अवस्था में ही धर्म का अनुसरण करो क्योंकि जीवन अनित्य है। धर्म्माचरण करने से इसलोक में कीर्ति होती है और परलोक में सुख प्राप्त होता है ॥१॥ धर्म सेवन करने से अर्थ का लाभ नहीं होता—यह मूढ़लोग कहते है। जैसे इक्षु वृक्ष के मूल में जल सेचन करने से तृण और लता सकल सिंचित होते हैं उसी भांति धर्म चरण के सङ्ग ही सङ्ग सुख, काम और अर्थ की साधना भी होती है ॥२॥

इस से बढ़ कर धर्म के गुणों का परिचय और क्या कहैं —

एकएवसुहृद्धर्मोनिधनेप्यनुयाति य ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धिगच्छति ॥१७॥

मनु ८ म, अ० ।

नामुत्रहि सहायार्थं पितामाताचतिष्ठत ।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलम् ॥२३८ ॥

मनु ४ र्थ, अ० ।

मृतंशरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमंक्षितौ ।
विमुखाबान्धवायान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥२४१॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः।
धर्मेणहि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥२४२॥

मनु ४ र्थ, अ० ।

धर्म ही जीवन का एकमात्र सुहृद है जो मरने पर भी साथ जाता है, और सब शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त होता है ॥१७॥ परलोक में सहायता करने के लिये पिता, माता, स्त्री, पुत्र और ज्ञातिवर्ग कोई नहीं समर्थ होते, केवल एकमात्र धर्म ही वहां सहायक है ॥२३९॥ काष्ठ लोष्ट के न्याय मृतशरीर को भूतल पर त्याग करके बान्धवगण जब विमुख होकर गृहगमन करते हैं उस समय केवल धर्म ही साथ जाता है, अतएव परलोक में सहायता के लिये प्रतिदिन थोड़ा २ धर्म सञ्चय करो; धर्म की सहायता से दुस्तर नरकादि से निस्तार होता है ॥२४१॥२४२॥

इसी भांति वेद, स्मृति, पुराण, तन्त्र सभी धर्म का अवलम्बन करके धर्म द्वारा अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति निश्चय जानकर धर्म सेवन करने के लिये सब को उपदेश देते हैं। इस दुःखी जीव का एकमात्र बन्धु, निराश्रय का एकमात्र रक्षाकर्ता, अनाथ का एक मात्र सहाय, जिस के अतिरिक्त पृथ्वीतल में अन्य कुछ भी अवलम्बनीय नहीं है वह धर्म क्या है? धर्मशिक्षा प्राप्त करने में उस धर्म का पांच स्थानों में अन्वेषण करना होता है। मनु के ग्रन्थ में वही अन्वेष्टव्य वा आदर्शभूत पांच स्थान वर्णित है। यथा—

"वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीलेषुतद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेवच॥"

सब वेद, वेदज्ञ ऋषियों की स्मृति और शील, साधुगणों का आचार और अपने आत्मा की प्रसन्नता; यही पांच स्थान वा पांच वस्तु धर्ममूल अर्थात् धर्मतत्त्व जानने के स्थान अथवा धर्मनिर्णय करने के प्रमाण हैं। वेद में सनातन धर्म का अभ्युदय है, वेदान्त में उस के सौष्ठव का प्रकाश है, दर्शन में उस के स्वरूप का विस्तार है, स्मृति में वा पुराणादि में उस की महिमा का प्रचार और सरल

आभास की व्याख्या है। एक सनातन धर्म का गूढ़ अर्थ ही विविध वेश से विविध संप्रदायों में नृत्य कर रहा है। इसी कारण धर्मतत्त्व जानने के लिये शास्त्र अवश्य पठनीय हैं; शास्त्र सकल विना पढ़े धर्म का ज्ञान नहीं होसक्ता, चित्त की शुद्धि नहीं होसक्ती एवं साधु सहवास भी नहीं किया जाता, इस कारण प्रतिदिन देह मन पवित्र करके सब को ही शास्त्र पाठ वा श्रवण करना चाहिये, आर्य्यों का यही एक ठौर धर्माचरण है। धन के लोभ से नहीं किन्तु धर्म सञ्चय की कामना से और पुण्य प्रसाद लाभ करने के निमित्त सब ही को प्रतिदिन शास्त्र पाठ करना आवश्यक है, जातीय उन्नति के पक्ष में, जातीय धर्म रक्षा के पक्ष में, संपूर्ण कल्याण के पक्ष में यह कैसा सुन्दर उपाय है! खीष्टान, मुसल्मान, हिन्दू आदि संपूर्ण प्रतिष्ठित जातियों का विश्वास यही है कि हमारे धर्मशास्त्र में जगत् स्रष्टा ईश्वरने मनुष्यों के प्रति जो जो विधान विहित किये है, उन के अनुसार चलना ही धर्म है। परन्तु दुःख का विषय है कि धर्म का मूल, चित्त शुद्धि का मूल, दृष्टादृष्ट फल समूह का मूल और धर्म, अर्थ काम, मोक्ष के साधन का उपाय स्वरूप जो संपूर्ण शास्त्र हैं उन के पठन पाठन के लोप होने का उपक्रम हमारे देश में हो रहा है॥

इस के अनन्तर वेदवादी महर्षिगणों का किस प्रकार का शील था, वह देखते हैं। कौन २ सद्गुण को वह शील कह के उल्लेख करते थे? महर्षि हारीत वह एक सूत्र द्वारा उपदेश करगये हैं। यथा—

"ब्रह्मण्यता देवपितृ भक्तिता सौम्यता अपरोपतापिता अनसूयता मृदुता अपारुष्यं मैत्रता प्रियवादित कृतज्ञता शरण्यता कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविध शीलम्॥"

शील १३ प्रकार का है, १३ प्रकार का शील अभ्यस्त होने से— स्वभावगत होने से उस के द्वारा आत्मा निर्मल होता है, निष्पाप होता है, एवं धर्म का बीज अंकुरित होकर क्रमशः सब हृदय में

अधिकार करलेता है। अब शील बोधक ११ शब्दों में प्रत्येक शब्द का क्या अर्थ है, सो सुनो।

(१) ब्रह्मण्यता—ब्रह्मण्यता और ब्रह्मनिष्ठता एक बात है। ब्रह्मध्यान, ब्रह्मतत्त्वानुसन्धान, और ब्रह्मज्ञान के लाभ निमित्त शास्त्रोक्त उपायों का अवलम्बन, इन को ब्रह्मण्यता कहते हैं। ब्रह्मण्यता होने से चित्त की वृत्ति जैसी होती है, वाणी की प्रवृत्ति जैसी होती है एवं शारीरिक कार्य्य जैसे सम्पादित होता है, सभी को ब्रह्मण्यता कहते हैं॥

(२) देवपितृभक्तिता—देवभक्ति और पितृभक्ति, देवाराधन और पितृसेवा, एक साथ इसी द्विविध अनुष्ठान में निरत होने का नाम और स्वभाव—"देवपितृभक्तिता" है। जिस को देवभक्ति नहीं है, पितृभक्ति नहीं है; वह धर्महीन है। विश्वास के विना भक्ति नहीं होसक्ती, विना भक्ति आराध्यता का ज्ञान विकसित नहीं होता सुतरा ऐसा पुरुष देवपूजा नहीं करता, प्रत्युत वह देवद्वेषी ही है। परलोकगत पितृगण के अस्तित्व में जिस को विश्वास नहीं है, पितृ भक्ति उस के हृदय में स्थान नहीं पासक्ती, वह व्यक्ति किसी प्रकार पितृपूजक हो नहीं सक्ता। वरं वह पितृद्वेषी ही है, देवद्वेषी और पितृद्वेषी होने के कारण शीलवृत्ति के अभाव होने से वह निश्चय धर्म्माधिकार से भ्रष्ट है॥

(३) सौम्यता—प्रसन्न भाव का नाम सौम्यता है। हृदय में प्रसन्नभाव न होने से मनुष्य सौम्य नहीं होसक्ता, सौम्यभाव का अभाव होने से धर्मजनक प्रधान शीलता का अभाव होने के कारण वह व्यक्ति धर्म्माधिकार से च्युत होजाता है॥

(४) अपरोपतापिता—दूसरे को उपतापित अर्थात् दुःखित न करना, इसी का नाम अपरोपतापिता है। इसी अपरोपतापिता का गुण यदि अभ्यास हो अर्थात् स्वभावावगत होजाय तो एक प्रधान धर्मसूत्र सुरक्षित रहै। वाक्यद्वारा, शरीरद्वारा, मनद्वारा, कार्य्य

द्वारा अन्य व्यक्ति जिस से व्यथा को न प्राप्त हो, इस प्रकार के भाव से चलसकें तो अवश्य ही धर्म का सञ्चय होसक्ता है ॥

(५) अनसूयता—दूसरे की उन्नति एवं प्रशंसा न सहसकने का नाम असूया है, इसी अत्यन्त अपकारी असूया यदि एक बारगी त्याग किया जाय, उन्मूलित किया जाय तो "अनसूयता" नामक शील प्रतिष्ठित होता है, इस शील के होने से निर्विघ्नरूप से धर्मोपार्जन किया जासक्ता है। असूया का त्याग विना किये धार्मिक होना असम्भव है—यह प्रत्यक्ष सिद्ध सिद्धांत है ॥

(६) मृदुता—क्रूरता के विपरीत गुण का नाम मृदुता है। मृदुता या कोमलता एक प्रधान गुण वा प्रधान शील है। विना कोमल या नम्र हुए, विना क्रूरता परित्याग किये सुशील होना दुस्तर है और विना सुशील हुए धर्म तत्पर होकर रहना असम्भव है ॥

(७) अपारुष्य—परुष व्यवहार वा कर्कशस्वभाव त्याग करने से अपारुष्य नाम शील का संचय होता है, यही अपारुष्य यदि हृदय में प्रतिष्ठित है—आयत्त है, तो अवश्य ही धर्म्माधिकार मिलसक्ता है। पारुष्य का परित्याग विना किये विवाद विवाद में प्रवृत्ति रहने से किसी भांति धर्म की प्रवृत्ति का उदय नहीं होसक्ता—यह सब लोग जानते हैं ॥

(८) मैत्रता—मित्रभाव और मैत्रता का एक ही अर्थ है। पराए सुख में सुखी होना और पराए दुःख में दुःखी होना—इसी मैत्रता नामक सत्शील के अभ्यस्त होने से धर्म में प्रवृत्ति होती है ॥

(९) प्रियवादित्व—सत्य और हित बात कहने का नाम प्रियवादित्व है। यही प्रियवादित्व नामक सद्गुण वा शील धर्म की विशेष सहायता करता है ॥

(१०) कृतज्ञता—पराए किए हुए उपकार के स्मरण रखने का नाम कृतज्ञता है। कृतज्ञता गुण के होने से परकृत उपकार मन में स्थित रहता है स्मरण रहने से विशेषधर्म होसक्ता है एवं ऐसे अर्थात् कृतज्ञव्यक्ति के द्वारा गुरुभक्ति, पितृभक्ति, परोपकार

और दाक्षिण्य आदि अनेक सत्कार्य्य अनुष्ठित होकर, वही सुकृत धर्म वृद्धि का कारण होसक्ते हैं ॥

(११) शरण्यता—शरणागत की रक्षा करने वाले का नाम शरण्य है; उस धर्म की रक्षा करने का नाम शरण्यता है; कोई शरण में आया हो उस की रक्षा करना, भीतव्यक्ति का भय से उद्धार करना, व्यथितव्यक्ति की व्यथा दूर करना—यह सभी शरण्यता नामक शील का कार्य्य है ॥

(१२) कारुण्य—कारुण्य वा दया एक ही है। करुणा कार्य्य का नाम कारुण्य है—यह सभी जानते हैं ॥

(१३) प्रशान्ति—प्रशान्ति नामक शील के अनेक कार्य्य हैं। धैर्य्य आदि सद्गुण इस के अन्तर्गत हैं। काम क्रोधादि शत्रुओं का वेग रोकने का नाम शान्ति है—वह भी इसी प्रशान्ति नामक शील के अन्तर्गत है। जिस में शान्ति गुण है वही व्यक्ति यथार्थ सुशील, सच्चरित्र, धार्मिक और साधु गिनने योग्य है। प्रशान्ति नाम अन्तिम शील धर्मोपार्जन का प्रधान सहाय है ॥

उक्त १३ प्रकार के शील वा आचार केवल धार्मिक पुरुष ही में रहते हैं अन्य में होते हैं या नहीं सो सन्देह है। महात्मा मनुजीने स्पष्ट करके दश प्रकार के आचार गिनाये हैं, यथा—धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् (१)। यहां पर धर्म शब्द से आचार धर्म का ग्रहण है ॥

(धृति) सन्तोष। (क्षमा) निन्दा, स्तुति, मानापमान, हानि और लाभ आदि दुःख की सहनशीलता। (दम) मन को सर्वदा धर्म में प्रवृत्त करना एवं अधर्म की इच्छा से निवृत्त करना। (अस्तेय) चौर्य्यत्याग, अर्थात् अनुमति के विना छल, कपटता, विश्वास घातकता अथवा अन्य किसी प्रकार से पराई वस्तु ग्रहण करने को चौर्य्य कहते हैं, उस के परित्याग करने को साधु कार्य्य कहते हैं। (शौच) राग द्वेष और पक्षपात त्याग करके आन्तरिक एवं जल और

(१) मनु ६ अध्याय १२ श्लोक।

मृत्तिका मार्जनादि द्वारा बाह्य पवित्रता साधन करना। (इन्द्रिय निग्रह) अधर्माचरण से निवृत्त करके इन्द्रियों को सर्वदा धर्ममार्ग में प्रवृत्त करना। (धी) मादक द्रव्य, अन्य बुद्धि नाशक पदार्थ, दुष्ट सङ्ग, आलस्य और प्रमादादि त्याग करके श्रेष्ठपदार्थों का सेवन, साधुपुरुष का सङ्ग एवं योगाभ्यास द्वारा बुद्धि वृद्धिसम्पादन। (विद्या) पृथ्वी से परमेश्वर पर्य्यन्त सब विषयों का यथार्थ ज्ञान, उन से यथायोग्य उपकार ग्रहण करना, एवं सभ्यभाव अर्थात् आत्मा का जो रूप मन में सो बाह्य में भी, जो भाव मन में वह वाक्य में, एवं जैसा वाक्य वैसा ही कार्य्य में व्यवहार—इस को विद्या कहते हैं एवं इस के विपरीत को अविद्या कहते है। (सत्य) जो पदार्थ जैसा है उस को वैसा ही जानना वैसा ही कहना और वैसा ही करना, एवं (अक्रोध) क्रोध आदि दोषों को त्याग करके शान्ति आदि गुणों को ग्रहण करना। यही आचार धर्म के लक्षण कहे गये हैं॥

अतएव सभ्यगण! इस समय यह निश्चय जानलो कि हमलोगों को ब्रह्मण्यता आदि त्रयोविंशति सदाचाररूप धर्म का आयोजन करना होगा। इन के करने से हमारे दश भांति के पाप नाश होंगे। दशविध पाप नष्ट होने से हमलोग कर्म धर्म वा कर्म योग के यथार्थ अधिकारी होंगे। अधिकारी होकर कर्म धर्म के अनुष्ठान से वह सफल होते हैं। जो हो, इस समय दशविध पाप कौन है? वह हम कहते है। कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से पाप त्रिविध है। उन में मानसिक और कायिक तीन तीन है। एव वाचिक चार यही दश पाप हैं। यथा—"परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्। वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्।" अर्थात् किस प्रकार पराया द्रव्य अपने घर में डालले यह चिन्ता। द्वितीय, मन मन में सदा दूसरे के अनिष्ट की चिन्ता। तृतीय, परलोक नहीं है, देव देवी नहीं हैं, याग यज्ञ सन्ध्यावन्दनादि निष्फल हैं—इस प्रकार की मिथ्या बुद्धि; यही तीन मानस पाप है। "पारुष्यमनृतञ्चैव पैशुन्य-ञ्चापिसर्वशः। असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयंस्याच्चतुर्विधम्।" कठोर वाक्य,

मिथ्यावाक्य, पीठ पीछे पराया दोष कहना, एवं राजा, देश वा ग्राम के सम्बन्ध में निष्प्रयोजन गल्प (गप्प)। यही चार प्रकार के वाचिक पाप है। "अदत्तानामुपादानं हिंसाचैवाविधानत । परदारोपसेवा-च शारीरं त्रिविधस्मृतम्।" अदत्त वस्तु का छल, बल, कौशल, से ग्रहण अविहित तथा हिंसा, परस्त्रीसम्भोग—यही त्रिविध कायिक पाप है॥

इन्हीं पूर्वोक्त आचारों के द्वारा मनुष्य शुद्ध होजाता है। इसी कारण शास्त्र कहता है कि "सदाचार विहीन त्रिवेदज्ञ भी किसी कार्य्य का नहीं है। सदाचार युक्त यदि केवल गायत्री का जानने वाला हो वह भी अच्छा है (१)" "आचार विहीन पुरुष दुराचार पदवाच्य है। यही दुराचार पुरुष लोक में निन्दित है। दुराचार पुरुष सदामानस दुःख से अभिभूत रहता है, सदा व्याधियों से जडित रहता है। अन्ततः अल्पायु होकर अकाल में काल कवलित होजाता है। किन्तु सदाचारयुक्त पुरुष सौभाग्यलक्षण हीन होने पर भी सकल सौभाग्यशाली होता है, एवं श्रद्धधान और असूयावर्ज्जित होने से पूर्णायु होता है" (२)। आचारयुक्त होकर कर्म करने को ही ऋषिगण विहित कह गये हैं। यथा—

एवमाचरतोदृष्ट्वा धर्मस्यमुनयोगतिम्।
सर्व्वस्यतपसो मूलमाचरं जगृहुः परम्॥

मुनिगण कहते हैं—आचार ही सकल तपस्याओं का साधन है क्योंकि कर्म धर्म का फल आचार द्वारा ही उत्तम होसक्ता है। अतएव हे भारतीय आर्य्यकुलगौरवाकांक्षिगण! आओ, हम सब

---

(१) सावित्रीमात्रसारोऽपिवरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्व्वाशीसर्व्वविक्रयी॥

(२) दुराचारोहि पुरुषोलोकेभवतिनिन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेवच॥
सर्व्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्चशतं वर्षाणि जीवति॥ (मनुस्मृति)

सदाचार युक्त हों। इस समय न हो कल सही, समाज के क्रोड़ में मृत्युशय्या पर शयन करना अवश्य है। "जातस्यहिध्रुवोमृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्यच" इत्यादि शास्त्रोपदेश अज्ञात रहने पर भी, नित्यप्रति दृश्यमान मनुष्य शरीर की अनित्यता देख कर मन २ में आप भी जानते हैं, हम भी जानते हैं--सभी जानते हैं कि एक दिन मरना होगा। अतएव एक न एक दिन मरने वाले के पापाचरणजन्य दुर्विषह अनुतापरूप वृश्चिक के तीव्र दर्शन की यंत्रणा से निस्तार पाने के लिये, स्वस्थ शरीर से समयविभाग द्वारा धर्माचरण में प्रवृत्त होवे। शास्त्रोक्त है—

भोगभूमि: स्मृत स्वर्ग कर्मभूमिरिय मता।
इहयत् क्रियते कर्म स्वर्गेतदुपभुज्यते॥
यावत्स्वस्थशरीरत्वं तावद्धर्मं समाचर।॥ विष्णुधर्मोत्तर।

यह आर्य्यभूमि कर्मभूमि है एवं स्वर्ग भोगभूमि है। यहां जो कार्य्य किया जाता है स्वर्ग में उस का फल भोग करना होता है। अतएव जबतक शरीर स्वस्थ है, धर्म्माचरण करो॥

हिन्दू का धर्म आचार के ऊपर आश्रित है। सदाचार वर्जित होने से परलोक में आत्मा की असद्गति होती है; सदाचार से शरीर मन और इन्द्रियादि की चेष्टा आदि अवश्य विशुद्धभाव को प्राप्त होंगे, तब हम बल और कौशल में, निष्ठा और प्रतिष्ठा में, कर्म और धर्म में, ध्यान और ज्ञान में जीवन और मरण में, भीतर और बाहर में अमोघ ब्रह्मतेज का पूर्ण परिचय देने में समर्थ होंगे। अतएव आओ! जिस धर्मने आर्य्यगण को धृति, क्षमा, दम आदि गुणों से अलंकृत किया, जो धर्मशीलता, दया दाक्षिण्य, मित्रता, अनुराग, प्रेम आदि की शिक्षा देता है, जिस धर्मने आर्य्यों के निर्मल हृदय में स्थित होकर उन को तेजस्वी, यशस्वी, शौर्य्यवीर्य्यशाली, विनयी, स्वाधीन, सत्यपरायण, जितेन्द्रिय बना दिया था, हम लोग उसी धर्म का अनुगमन करें॥

ओ३म् शान्तिः! ओ३म् शान्तिः! ओ३म् शान्तिः!

द्वितीय अध्याय ।

ब्रह्मचर्य्य ।

ब्रह्मचर्य्य ही हिन्दुओं का प्रथम आश्रम है। इसी आश्रम में यथाविधि निवास करने के अनन्तर मनुष्य, गार्हस्थ जीवन में प्रवेश करके गृहस्थी के कर्तव्यों का भलीभांति पालन करने में समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य्यावस्था में हमलोगों का यथार्थरूप से चरित्र संगठन होता है। चरित्र ही जीवन की सार वस्तु है, सच्चरित्र नाम धन से वंचित होने पर मनुष्यत्व रहता है या नहीं, सो सन्देह है। ब्रह्मचर्य्य आश्रम इस समय नहीं है, काल के प्रभाव से वह विलुप्त होगया। आधुनिक समय में पाश्चात्य सभ्यता की उपासना ही अप्रतिहतभाव से प्रचलित है किन्तु उस से हम लोगों की क्या उन्नति हुई है। हम मानते हैं कि पिता माता बाल्यकाल से सत्शिक्षा देते आते है, आत्मीयबन्धु और गुरुजन चिरदिन से साधु व्यवहार की उपदेश और उदाहरण द्वारा दिखाते है, हम मानते है कि सत्शास्त्रों का भी पठन पाठन होता है एवं आवश्यक होने पर अनेक समय पाण्डित्याभिमान से अन्य को अनेक उपदेश देने में भी पश्चात्पद नहीं है। वाक्य में प्रलापोक्ति के न्याय उन्नति की आलोचना में नितान्त त्रुटि नहीं है किन्तु कार्य्यक्षेत्र में अग्रसर होने को कहने से सभी पृष्ठ दिखलाते है। स्पष्ट कथा हम कहते है कि कर्तव्य के कणिकामात्र भी करने में प्रवृत्ति नहीं होती। वस्तुत कर्तव्य करने में प्रवृत्ति नहीं है—सो नहीं है, अभाव केवल प्रवृत्ति की दृढ़ता का है। हम साहसपूर्वक कहसक्ते है कि जिस दिन से नीति और धर्मज्ञान शून्य शुष्क शिक्षाने वैज्ञानिक परिच्छद धारण करके हंसते २ तरुण बालकों के हृदय के मर्म स्थल पर अधिकार कर लिया, उसी दिन से धर्म का भय दूर भाग गया; एवं मद्यपान, वेश्यासमागम, अमिताचार, मिथ्याभाषण, कपट व्यवहार, प्रवञ्चनादि

दुर्नीति समूहने समाज में अपेक्षाकृत अधिक परिमाण से आश्रय पाया है। क्रियागत शिक्षा द्वारा बाल्यकाल के संस्कार शास्त्रानुगत कर सकने से प्रत्यक्ष उन्नति होसक्ती है; नतुवा बाल्यकाल मे स्वतंत्र रख कर यौवन वा वृद्धता में शास्त्रोपदेश की वर्षा से सद्वृत्ति का उद्बोधन करना और अपार मरुभूमि में जल की प्रत्याशा करना, एक ही बात है। अपने गृह में बालकगण उच्चदृष्टान्त जब नहीं देखते तो क्यों न पिता आदि कर्तृपक्षीय गणकृत ब्रह्मचर्य्यविहीन होकर गृहस्थाश्रम में अधिकार के विना प्रवेश करें; माता, भगिनी आदि विषय व्यवहार के उपदेश के अतिरिक्त गृहस्थ के साधनरूप धर्म का उपदेश नहीं पातीं, विद्यालय में धर्म शिक्षा नहीं दी जाती, सुतरां समाज की उन्नति कैसे हो ? देशोन्नति का जो कुछ बल है वह चरित्रसापेक्ष है। चरित्रवान् विना हुए कोई भी किसी कार्य्य में दृढ सङ्कल्प नहीं होसक्ता एवं यह बल एकमात्र ब्रह्मचर्य्य के धर्म साधन ही से मिलसक्ता है। एक चरित्र बल ही के अभाव से हम लोगों के देश में राजकीय, धर्म वा सामाजिक सकल, आन्दोलन ही वाक्य मे पर्य्यवसित होकर वृथा गण्ड लोग होता है। चरित्रवान् पुरुष विरल है सुतरां समाज में विशृंखलता है॥

दुर्ब्बल अवस्था से संसार में विचरण करने से पदस्खलित होने की सम्भावना है इसी कारण हिन्दू गण प्रथम ही से निज २ सन्तानों को अति बालक अवस्था में ही ब्रह्मचर्य्य पालन के लिये गुरुकुल में भेज देते थे। बालकगण थोड़ी अवस्था में ही पिता के स्नेहमय भवन और जननी के चिरकरुणा प्रीतिमय अङ्क परित्याग करके गुरुकुल म जाकर बास करते थे—सुख से नहीं किन्तु अति कठोर तपस्या में प्रवृत्त होना होता था! कहां वह जनक का स्नेह पूर्ण सम्भाषण! और कहां वह जननी की हर्षाश्रुप्लावित करुणामय दृष्टि। और कहां आत्मीय स्वजनों का सस्नेह व्यवहार!! गुरुगृह में अपरिचित व्यक्ति निचयों के बीच में उसी बालक को बहुकाल रहना होना था, क्षुधा के समय प्रीति कर आहार नहीं, निद्रा के समय

सुकोमल शय्या नहीं, दारुण शीत में उत्तम शीत वस्त्र नहीं, पांवों में पादुका नहीं, कठिन घाम में छत्र नहीं; केवल कठोरता! उसी कठोरता का विश्राम नहीं ;—अविरत उत्तरोत्तर केवल उसी के परिमाण की वृद्धि॥

यौवन के भीम मरीचिकामय क्षेत्र में जिन चरणों से विचरण करना होगा, उन चरणों में चिर दिन पादुका धारण करके चलने की क्या आवश्यकता है? अनन्त भावों की तरङ्गावली के आवर्तों से परिपूर्ण हृदय, भविष्यत् में जिस का चिरकालतक आधार होगा, बाल्यकाल से वह हृदय कोमलभावो के विलासमय अङ्क में लालित हो—इस की क्या आवश्यकता है? अनन्त तृष्णा के तीव्र उत्ताप से जो हृदय एक दिन शुष्क होसक्ता है, उस बालक के हृदय को कुछ दिनमात्र स्नेहरस से लालित करने में कोई फल नहीं है; वरं सुखावस्था से यदि कोई हठात् यंत्रणामय घटना आकर प्राप्त हो तब वह असहिष्णु हृदय एक बार भग्न होजायगा जीवन का महान् उद्देश्य हताशा के खरस्रोत में कहां बहजायगा? आज जिन को दुग्ध पोष्य शिशु देखते हो, इन्ही के हाथ में एक दिन संसार का गुरुभार अर्पण करके हम लोगों को इस कर्मक्षेत्र से विदा ग्रहण करना होगा। अतएव प्रथम ही से इन लोगों को भार वहन करने में समर्थ बनाना आवश्यक है। यही सब विचार करके हिन्दुओं की प्राचीन व्यवस्थापक—संप्रदायने बालकगण को अति शिशु अवस्था ही से नाच, तमाशा, आमोद, उपहास, कलह, कुत्सा प्रभृति समाज के सब प्रकार के विक्षेपों से बचाने के लिये लोकालय से दूर गुरुगृह में वास करने के लिये भेज देने की व्यवस्था प्रणयन की है। शिशु काल से उक्त सकलभाव हृदय में अधिकार न पाकर पुनः यौवन में यह और प्रबल नहीं होसक्ते या अपनी ओर अनुराग आकर्षित नहीं कर सक्ते। और ऐसा करने से केवल असत्सङ्ग ही का अभाव होता है सो भी नहीं, गुरुसेवा निरत रहने से दीनता, मृदुता, सन्तोष, सहिष्णुता आदि कोमलभाव भी हृदय में आविर्भूत होते है। गुरु

की सत्‌शिक्षा और शुभ दृष्टान्त देखने से चरित्र गठन भी होता है। आश्रम धर्म के अनुष्ठान से बुद्धि शास्त्रानुगामिनी होती है तब शास्त्र के तात्पर्य्य में विश्वास और भगवान् में भक्ति का उद्रेक स्वत होता है। इस भांति के शुभसंयोग में शास्त्राभ्यास करते करते जीवन के उद्देश्य और जीवन के कर्त्तव्य का बोध होता है। विलास और विवाद विवाद में स्वयमेव अनास्था हो उठती है॥

बालकगणों की ८।८ वर्ष की अवस्था में गुरुगृह में अध्ययन आरम्भ होता था; और अध्ययन शेष होने पर, शिक्षकगणों की अनुमति पाने से विद्यालय से बालक बाहर होसक्ते थे। किन्तु जब तक विद्याभ्यास नहीं होता था तबतक शिक्षकगण बाहर होने की अनुमति नहीं देते थे। इसी नियम से ४८ वर्ष ३६ वर्ष २४ वर्ष अथवा इससे कुछ न्यून गरुकुल में वास करना होता था। ४८ वर्ष का ब्रह्म-चर्य्य सर्वोत्तम है, ३६ वर्ष का उत्तम, २४ वर्ष का मध्यम एवं इस से न्यून अधम करके कथित है (१)। किन्तु अब जैसा समय आगया है, रोग शोक आदि से मनुष्यगण जैसे जर्ज्जरित होरहे हैं, उस से विदित होता है कि महाभारतोक्त न्यून से भी न्यून जीवन का चतुर्थांश ब्रह्मचर्य्यावस्था में व्यतीत करना यथेष्ट होगा (२) मनुष्य की आयु साधारणत शतवर्ष है, अन्तत वेद ऐसा ही कहता है। इस का चतुर्थांश २५ वर्ष परिमाण समय है। इसी समय पर्य्यन्त अध्यापक के गृह में वास करके विद्याध्ययन करना अयौक्तिक या अयोग्य न होगा। २५ वर्ष परिमित अवस्था में मनुष्य का वीर्य्य परिपक्व होता है और आयुर्वेद के मत में इसी समय में मनुष्य पुत्रोत्पादन के योग्य होता है। इसी समय में सुश्रुताचार्य्यने विवाह

---

(१) अष्टचत्वारिंशद्वर्षाणि॥ पादूनम्॥ अर्द्धेन॥ आपः धर्म्मसूत्र॥

प्र० १ प० १ खं० २।

(२) आयुषस्तु चतुर्भागं ब्रह्मचर्य्यनसूयकः।
गुरौ वा गुरुपुत्रे वा वसेद्धर्म्मार्थकोविदः॥

महाभा० शान्ति पर्व्व मो० ध० अ० २४१॥

करने का आदेश दिया है (१)। २५ वर्ष गुरुगृह में व्यतीत करके वहां से प्रत्यावर्त्तन के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना होता है॥

पूर्व्वसमय में विद्यालय एक ठौर प्रकाण्ड स्थान में होता था। चारों ओर परिखा से वेष्टित और उच्च प्राचीर से आवृत होता था; बीच में उद्यान, सरोवर, अश्वारोहण करके भ्रमण करने के योग्य भूभाग एवं वृहत्प्रासाद होता था। नाना प्रकार की पुस्तक, चित्र कर्मोपयोगी यंत्रादि एवं अन्यान्य शिल्प-सामग्री, इस प्रासाद के एक एक प्रकोष्ठ में रहती थीं। प्रासादगृह द्वितल या त्रितल होता था, निम्नतल में व्यायाम-चर्चा का स्थान साधारणत रहता था। लौह मुद्गर लेकर व्यायाम करने का नियम था। साधारणत ब्राह्मणकुमार ग्राम ही में पढते थे। विदेशी छात्रगण सम्भवत भोजन भी पाते थे। इसी भांति परान्न भोजन करके ही विदेश में बाणभट्टने अधिक विद्याभ्यास किया था। यह भोजन अध्यापक देते थे वा अन्य कोई देता था, यह ठीक नहीं कहा जासक्ता। इस समय भी जैसे विद्या-लय स्वास्थ्य कर स्थान देख कर उस में बनाने की विधि है वैसे प्रथम भी था। ग्राम वा नगर के बीच में विद्यालय नहीं निर्म्मित होता था। मनुष्यों का कोलाहल जहां सुनाई देता वा विशुद्ध वायु का जहां अभाव है उस स्थान पर विद्यालय न होना चाहिये—यह हमने शास्त्र पाठ से अवगत किया है। हिन्दू समाज के प्रधान व्यवस्थापक भगवान् मनु कहते है—

> नित्यानध्याय एव स्याद् ग्रामेषु नगरेषु च।
> धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा॥ मनु ४।१०७।

अर्थ। धर्म में निपुणता प्राप्त करने की इच्छा वाले मनुष्य के लिये बहुजनाकीर्ण ग्राम नगर एवं सदा दुर्गन्धिमय स्थान में नित्य अनध्याय जानो॥

---

(१) अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्॥ (सुश्रुत)

वर्तमान काल की अपेक्षा पूर्वसमय में विद्या शिक्षा का नियम अति चमत्कार था। इस समय धन देने की सामर्थ्य विना विद्यालय में प्रवेश करना कठिन है। किन्तु पूर्व समय में इस प्रकार का नियम न था, बालकगण विद्यालय ही में आहार पाकर विद्याभ्यास करते थे, यह क्या कम उत्तमता थी? तिस के बाद अनाथ बालक गण राजा की सहायता पाते थे। वह जब विद्यालय में जाते थे तत्पश्चात् कोई उन की धन सम्पत्ति का अपहरण करले—ऐसा भय उन को नहीं करना होता था। राजा स्वयं उस संपूर्ण सम्पत्ति और उन के रक्षणावेक्षण का भार ग्रहण करते थे। इस प्रकार की प्रथा पृथ्वी में कहीं अन्यत्र थी या नहीं, सो नहीं जानते किन्तु इतना ही कहसक्ते हैं कि इस प्रकार का दृष्टान्त केवल एकमात्र भारत ही में दीख पड़ता था। यह क्या हम लोगों के कम गौरव का परिचय देता है? ए देखो भगवान् मनु स्पष्टरूप से कहते हैं—

> बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजाऽनुपालयत्।
> यावत् स स्यात् समावृत्तो यावच्चातीतशैशव. ॥ मनु ८।२७।

पितृ मातृ विहीन अनाथ बालक का धन को और बालक अतीत शैशव होकर गुरुकुल से गृहाश्रम में जबतक प्रत्यावृत्त हो तबतक उस को राजा रक्षा करे। षोड़श वर्ष के बाद शैशव अतीत होता है॥

उक्त श्लोक से यही प्रतीत होता है कि पूर्व काल में गुरुगृह में निवास करने की आज्ञा राजा लोगों ही के निकट से प्राप्त होती थी। गुरुकुल में व्याकरण, मीमांसा, काव्य, दर्शन, तर्क शास्त्र, धर्म शास्त्र एवं वेदोक्त कर्मकाण्ड की शिक्षा ब्राह्मणों को प्रधानतः दीजाती थी। सर्व विद्यापारदर्शी होने के लिये यह संपूर्ण ही विद्या जानने की आवश्यकता है; इन के अतिरिक्त राजनीति, व्यायाम शास्त्र, नृत्यगीत वाद्य, चित्र कर्म, ग्रहगणित, आयुर्वेद, धनुर्वेद, इन्द्रजाल विद्या, महाभारत, रामायण, पुराण, इतिहास, छन्द,शास्त्र, वास्तु

विद्या, सब प्रकार की भाषा और अक्षर, शिल्प, सन्तरण, लम्फ, वृक्षारोहण पर्य्यन्त संपूर्ण विषयों की शिक्षा कराई जाती थी। खनिज्ञान, रत्नपरीक्षा, शकुनज्ञान अर्थात् काक का इस प्रकार का शब्द भला है, इस प्रकार का शब्द मन्द है; मृग का शब्द भला है कि मन्द है एवं कौन प्रकार का शब्द कौन प्रकार के फल की सूचना करता है; इत्यादि का ज्ञान, अश्वविद्या, रथसंचालनविद्या, हस्ती शिक्षा, मृत्तिका की प्रतिमादि का गठन, कूतार का कर्म, हस्ति-दन्तादि का कारु कार्य्य, भूगर्भ में सुरङ्ग आदि का खनन, विष नाशिनी विद्या, द्यूतक्रीडा इत्यादि अनेक विषयों की शिक्षा होती थी। किन्तु यह सकल प्राचीन ग्रन्थ इस समय अधिकांश ही विलुप्त होगये हैं॥

धनिकों के घर की कन्यायें भी सकल "कला" अर्थात् नृत्य-गीतादि एवं विविध शिल्प कार्य्य की शिक्षापाती थीं; भाषा और लिपि शिक्षा भी इसी के साथ होती थी॥

राजा महाराजा सब विषयों में एक२ जन शिक्षक नियुक्त करके एक ठौर महाविद्यालय बनवा देते थे; राजकुमार गण दो एक जन सहचर किङ्करों के समभिव्याहार मे पठनार्थ नियुक्त होते थे। ब्राह्मणों का साधारण शिक्षास्थान टोला था। टोले में पढने से वेतनादि नहीं देना पडता था। सभा का विचार, विचार में कलह; यह इस समय का न्याय तब भी था। अनेक ब्राह्मण ही संसारी थे; गृहस्थ पण्डित गण अपने घर ही में विद्यार्थियों को विद्यादान करते थे, यह नियम अद्यापि अनेक स्थलों में प्रचलित है॥

शिक्षक नियुक्त होने के सम्बन्ध में पूर्वसमय एक ठौर विशेष सुनियम था। ऐसा वैसा व्यक्ति शिक्षक के पद में नहीं नियुक्त होता था। जो सर्वशास्त्रदर्शी, कार्य्यदक्ष, शास्त्र का यथार्थ अर्थ जानने वाला, सुभाषी, सुरूप, अविकलांग, कुलीन होता था, जिस के दर्शन करने से लोगों का कल्याण होय एवं जो जितेन्द्रिय, सत्यवादी,

ब्रह्मण्यशील, ब्राह्मण, शान्तचित्त, पितृमातृहित निरत, सर्व कर्त्तव्यानुष्ठानशील, आश्रम युक्त और देशवासी होता था उसी का गुरुपद में वरण किया जाता था (१) ॥

यज्ञोपवीत के अनन्तर गुरुगृह में प्रवेश करके बालकगण सब के पहले शौच, आचार, हवन और सन्ध्योपासन की शिक्षा पाते थे (२) इस का कारण यह है कि विशुद्ध सतोगुण के स्फुरण के निमित्त आन्तरिक और बाह्य शौच द्वारा अन्तःकरण को निर्मल करना होता है, क्योंकि अन्तःकरण बिना निर्मल हुए उस में शुद्ध ज्ञानात्मिका प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होसकती। मन की स्वच्छता राजस और तामस प्रवृत्तियों का दमन करती है। इसी कारण सर्व प्रथम ही बालकों को शौच शिक्षा देने की व्यवस्था है। किन्तु आजकल शिक्षा का कैसा दुर्दिन है। शिक्षक या छात्र, शौच किस को कहते हैं—यह भी नहीं जानते और जानने की आवश्यकता है—ऐसा भी नहीं विचारते। कारण यह है कि उन की बुद्धि ही में यह विषय नहीं आता कि ज्ञानवृत्ति के सहित शौच का एक और घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान है। शौच शिक्षा के पश्चात्, बालकों को गुरु के साथ और अन्यान्य सब के साथ कैसा व्यवहार करना होगा, इस की शिक्षा होती है। पूर्वकाल में गुरु सर्वापेक्षा मान्य होते थे। यथार्थ ही जो ज्ञानप्रदीप दिखा कर अज्ञ व्यक्ति के अज्ञानान्धकार को दूर करके ज्ञानचक्षु खोलदे, उस की अपेक्षा और कौन बन्धु या हितकारी

---

(१) सर्व्वशास्त्रपरोदक्षः सर्वशास्त्रार्थवित्सदा।
सुवचाः सुन्दरः स्वङ्गः कुलीनः शुभदर्शनः॥
जितेन्द्रियः सत्यवादी ब्राह्मणः शान्तमानसः।
पितृमातृहिते युक्तः सर्व्वकर्म्मपरायणः॥
आश्रमी देशवासी च गुरुरेवं विधीयते॥

(२) उपनीयगुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्य्यञ्च सन्ध्योपासनमेवच॥ मनु २।६९।

अथवा माननीय होसक्ता है ? (१)। इसी कारण बालकगण पूर्णरूप से आचार्य्य के अधीन होते थे और आचार्य्य की आज्ञा के प्रति पालन में इतस्ततः नहीं करते थे। पूर्व समय में गुरु का सम्मान इतनी उच्च सीमा को प्राप्त होगया था कि शिष्य, गुरु की शय्या, आसन, यान, पादुका, उपवेशनाधार, स्नानोदक और छाया (पर्य्यन्त भी) लंघन नहीं करते थे (२) गुरु के उपस्थित रहने पर पृथक् पूजा नहीं करते थे और किसी भांति का उद्धतस्वभाव नहीं प्रकाशित करते थे। गुरु के आगे दीक्षाशास्त्र की व्याख्या और प्रभुता का परित्याग करते थे (३) सोये हुये या बैठे हुए या भोजन करते करते या खडे हुये या दूसरी ओर मुख किये गुरु की आज्ञा का ग्रहण न करते थे, किंवा गुरु के साथ सर्वदा संभाषण करने की रीति न थी (४) गुरु बैठे हुए आज्ञा करैं तो शिष्य उठ कर एवं गुरु उठ कर आज्ञा करैं तो शिष्य गुरु के सन्मुख जाकर और गुरु आगमन करते करते आज्ञा करैं तो शिष्य प्रत्युद्गमन करके और गुरु गमन करते २ आज्ञा करैं तो शिष्य पश्चाद्गमन करके गुरु की आज्ञा ग्रहण करता था (५)। गुरु अन्य ओर मुख करके स्थित हो तो शिष्य गुरु के सम्मुख जाकर, गुरु दूरस्थ हो तो शिष्य निकट जाकर, गुरु शयान हो या निकटस्थ हो तो शिष्य अवनत मस्तक होकर गुरु की आज्ञा

---

(१) अज्ञानतिमिराच्छन्नो ज्ञानदीपं यतो लभेत्।
लब्ध्वा च विमलं पश्येत् को वा तस्मात् तुल्य: परम॥ ब्र० वै० पु० ३।४०।६१।

(२) गुरु शय्यासनं यानं पादुकोपानत्पीठकम्।
स्नानोदकं तथा छायां लंघन नैवकारयेत्॥ त—सा।

(३) गुरोरग्रे पृथक्पूजामौद्धत्यं च विवर्ज्जयेत्।
दीक्षां व्याख्यां प्रभुत्वं च गुरोरग्रे परित्यजेत्॥ त—सा।

(४) प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत्।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुख:॥ मनु २।१९५।

(५) आसीनस्य स्थित: कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठत:।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजत: पश्चाद्धावंस्तु धावत:॥ मनु २।१९६।

ग्रहण करता था (१)। गुरु खड़ा हो तो शिष्य भी खड़ा रहता था, गुरु गमन करे तो शिष्य अनुगमन करता था, गुरु बैठा हो तो शिष्य नीच आसन पर बैठता था एवं किसी समय गुरु के प्रतिकूल आचरण न करता था (२)। परोक्ष में भी गुरु का उपाधि हीन केवल नाम उच्चारण नहीं करते थे एवं परिहास-छल से गुरु के गमन और कर्मों का कभी अनुकरण न करते थे (३)। जहां गुरु का परीवाद (अप्रत्यक्ष दोष) कीर्त्तन हो वहां शिष्य दोनों हाथों से दोनों कान बन्द कर लेता था अथवा वहां से हटजाता था (४) उन को विश्वास था कि शिष्य गुरु का परीवाद करने से दूसरे जन्म में गर्दभ होता है, निन्दा करने से कुक्कुर होता है, अन्याय से गुरुधन उपभोग करने से कृमि होता है एवं गुरु की प्रशंसा के असहन से कीट होता है (५)। गुरु भी शिष्य को ताड़नापूर्वक शिक्षा नहीं देते थे। धर्म कामना से शिष्य के प्रति शिक्षक गण मधुर एवं विनम्रवाक्यों का प्रयोग करके शिक्षा देते थे (६)। तब यदि बहुत असह्य होता था तो अति कोमल दल शून्य वंश-खण्ड अथवा रज्जुद्वारा आघात करते थे। किन्तु अन्य वस्तु द्वारा शिष्य को आघात करने से गुरु राजा

---

(१) पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्यचान्तिकम्।
प्रणम्यतु प्रशयानस्य निदेशेचैव तिष्ठतः॥ मनु २।१९७।

(२) स्थिते तिष्ठेद्व्रजेद्याति नीचैरासीत्तथासति।
शिष्योगुरोर्नृपश्रेष्ठ। प्रतिकूलं न सम्भजेत्॥ वि० पु० ३।९४।

(३) नोदाहरेदस्यनाम परोक्षमपि केवलम्।
नचैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम्॥ म० सं० २।१९९।

(४) गुरोर्यत्र परीवादो निन्दावापि प्रवर्त्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥ म० सं० २।२००।

(५) परीवादात्खरोभवति श्वावै भवति निन्दकः।
परिभोक्ताकृमिर्भवति कीटोभवति मत्सरी॥ मनु २।२०१।

(६) अहिंसयैवभूतानां कार्य्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक्चैव मधुराश्लक्ष्णा प्रयोज्याधर्म्ममिच्छता॥ मनु २।१५९।

द्वारा दण्डनीय होते थे (१)। गुरु के साथ शिष्य का ऋण देना और ऋण लेना अथवा किसी वस्तु के क्रय विक्रय का निषेध था (२)। गुरुपुत्र गुरुसदृश सम्मान के योग्य होने पर भी गुरु के न्याय गुरुपुत्र का गात्रमर्दन, स्नानकराना, उच्छिष्टभोजन अथवा उस का पद-प्रक्षालन निषिद्ध था (३)। गुरु की सवर्णा स्त्री गुरु के न्याय पूजनीया, किन्तु असवर्णा स्त्री केवल अभ्युत्थान और अभिवादन द्वारा ही सम्माननीया (४)। गुरुपत्नी के गात्र में तैलाभ्यङ्ग करना, स्नान कराना, उन का गात्र-मर्दन, उन का केश संस्कार शिष्य के पक्ष में निषिद्ध था (५)। यहाँ तक कि गुरुपत्नी तरुणी हो तो शिष्य उन के चरण छूकर अभिवादन न करते थे (६)॥

ब्रह्मचारी केवल गुरु सेवा और अध्ययन कर ही के निष्कृति नहीं पाते थे। किन्तु ब्रह्मचारी को मधु, मांस, गन्धद्रव्य का सेवन, माल्यादि धारण, गुडप्रभृति रस भोजन, स्त्रीसम्भोग, जो संपूर्ण वस्तु स्वाभाविक मधुर हैं किन्तु कारणवश अम्ल है—वह सब शुक्त संज्ञक पदार्थ और प्राणिहिंसा परित्याग करना होता था (७)।

(१) शिष्यशिष्टिरवधेनाशक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्यां।
तनुभ्यामन्येनघ्नन् राजा शास्यः॥ गौतम स्मृति २ अ०।

(२) ऋणदानं तथादानं वस्तूनां क्रयविक्रयम्।
नकुर्य्याद्गुरुणासार्द्धं शिष्योभूत्वाकदाचन॥ त—सा।

(३) उत्सादनञ्चगात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने।
न कुर्य्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम्॥ मनु २।२०९।

(४) गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।
असवर्णास्तु सम्पूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः॥ मनु २।२१०।

(५) अभ्यञ्जनं स्नापनञ्च गात्रोत्सादनमेवच।
गुरुपत्न्या न कार्य्याणि केशानाञ्च प्रसाधनम्॥ मनु २।२११।

(६) गुरुपत्नीतु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता॥ मनु २।२१२।

(७) वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्व्वाणि प्राणिनाञ्चैवहिंसनम्॥ मनु २।२१३।

मस्तक और सर्वाङ्ग में तैलद्वारा मर्दन, कज्जलादि द्वारा नेत्ररञ्जन, पादुका वा छत्रधारण, काम, क्रोध, लोभ और नृत्य गीत वादन, अक्षादिक्रीड़ा, लोगों के साथ वृथा कलह, देशवार्तादि का अन्वेषण, मिथ्या कथन, निन्दित अभिप्राय से स्त्री गणों के प्रति कटाक्ष एवं उन का स्पर्श एवं दूसरे का अनिष्टाचरण; इन सब से ब्रह्मचारी को निवृत्त रहना होता था (१)। ब्रह्मचारी को सर्वत्र एकाकी शयन करना होता था एवं वह लोग कदापि हस्त व्यापारादि द्वारा वीर्य्य पात न करते थे क्योंकि वह जानते थे कि कामवश होकर वीर्य्यपात करने से ब्रह्मचारी व्रत नष्ट होजायगा (२)। यहां तक कि, यदि बिना कामवश हुए स्वप्न दोष से ब्रह्मचारी का वीर्य्य स्खलित होजाता था तो उस की शुद्धि हेतु स्नान करके सूर्य्यदेव की अर्चना करना होता था एवं "हमारा वीर्य्य पुनराय प्रत्यावर्त्तन करे"—इत्यादि वेद मंत्रों का बारम्बार जप करना होता था (३)। इस प्रकार जप करने से उन का स्खलित वीर्य्य प्रत्यावर्त्तन करे या न करे किन्तु यह उन को विशेष रूप से बोध गम्य होता था कि वीर्य्य का स्खलित होना ब्रह्मचारी के पक्ष में महापाप है एवं वीर्य्य रक्षण ही ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करने का अन्यतम उद्देश्य है (४)। दुर्बलकाय एवं दुर्बलचित्त व्यक्ति संसार का कोई कार्य्य करने में समर्थ नहीं होता। ऐसे व्यक्ति के द्वारा जगत् में निज का वा पराया कोई मङ्गल

---

(१) अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतञ्चजनवादञ्च परीवादं तथानृतम्।
स्त्रीणाञ्चप्रेक्षणालंभमुपघातं परस्य च॥ मनु २।१७८।१७९।

(२) एकः शयीत सर्व्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्।
कामाद्धिस्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥ मनु २।१८०।

(३) स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वार्कमर्च्चयित्वा त्रिः पुनर्म्मामित्यृचं पठेत्॥ मनु २।१८१।

(४) ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः॥ पातञ्जल योगशास्त्र पाद २ सूत्र ३८।

साधित नहीं होता। अतएव शरीर को दृढ और बलवान् बनाने के लिये वीर्य्य की रक्षा करने की अवश्य आवश्यकता है। वीर्य्य की रक्षा न करने से तुम्हारा अनिष्ट तो निश्चय ही होगा एवं तुम्हारे जीवन के साथ विश्व का सम्बन्ध रहने से तुम संसार के भी अनिष्ट-कारी होजाओगे। वीर्य्य ही मनुष्य शरीर में सार वस्तु है अतएव इस का वृथा क्षय करने से महापाप होता है। बहुत कष्ट और कठिनाइयों से यह शुक्र मनुष्य के शरीर में एकत्रित या उत्पन्न होकर संचित होता है। आयुर्वेद कहता है—

> रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेद प्रजायते।
> मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जात शुक्रसम्भव॥

अर्थात् भुक्तवस्तु पूर्णतया परिपक्क होने पर उस से जो तरल सारांश बहिर्गत होता है उस का नाम रस है। रस यकृत् मे गमन करके पित्त द्वारा रञ्जित होकर रक्त बनजाता है। यही रक्त अपनी उष्णता द्वारा पक्व और वायुद्वारा घनीभूत होकर मांस बनजाता है। मांस से मेदा बनती है। मेदा पक्व और शुद्ध होकर अस्थिरूप धारण करती है। अग्नि से पक्क होकर अस्थि से एक तरल पदार्थ उत्पन्न होता है, वही पदार्थ वायु द्वारा घनीभूत होकर अस्थि रन्ध्रों को पूर्ण करता है, इसी का नाम मज्जा है एव उसी मज्जा का सारांश पृथक् होकर शुक्ररूप धारण करता है। एवं शुक्र क्षय होने से दुर्बलता, मुखशोष, पांडुवर्णता, हृदय स्फोटन, भ्रान्ति, नपुंसकता और बीस प्रकार के प्रमेह (रोग) उत्पन्न होते हैं (१) किन्तु तब भी उसी कष्ट संचित वीर्य्य को जो आधुनिक विद्यार्थीगण अवलीलाक्रम से क्षय करते है यही आधुनिक सभ्यता की वीरता है! वीर्य्य का क्षय ही एकमात्र भारतवासियों की इतनी दुर्दशा और अवनति का कारण है!! यदि आर्य्यवंश की रक्षा करना चाहते हैं तो अप्राप्त

---

(१) दौर्ब्बल्यं मुखशोषश्च पांडुत्वं सदनं क्रमः।
क्लैब्यं शुक्रविसर्गश्च क्षीणशुक्रस्य लक्षणम्॥

वयस्क बालकों को शुक्रक्षयरूप महापाप से बचाने के लिये कटिबद्ध होओ। बिना यह किये बी, ए, ऐम, ए, पास कराने से कुछ भी न होगा !! यह विशेष करके स्मरण रक्खो कि आयु, तेज, बल, वीर्य, बुद्धि, श्री (शोभा), सुन्दरता, धन, महायश, पुण्य एव प्रीति इन सब को अब्रह्मचर्य्य नाश कर देता है (१)। आधुनिक सम्प्रदाय में कोई कोई वैद्य स्त्री संग और शरीर की रक्षा के लिये वैद्य आहार को ही ब्रह्मचर्य्य कह कर व्याख्या करते रहते हैं, वस्तुत वह यथार्थ ब्रह्मचर्य्य का लक्षण नहीं है, वह सद्गृहस्थ का केवल लक्षण है। ब्रह्मचर्य्य शब्द का अर्थ ब्रह्मवत् आचार एवं स्त्री, तैल, ताम्बूलादि परित्याग है, विशेषत स्त्री सेवापरायण होने से किसी प्रकार ब्रह्मचर्य्य सुरक्षित नहीं रहसक्ता, अर्थात् मैथुन कर्म ब्रह्मचर्य्य का प्रबल शत्रु है, केवल शृंगार करने ही को स्त्री सङ्ग नहीं कहते इन अष्टविध क्रियाओं को शृंगार कहते है यथा—स्त्रियों का स्मरण, उन का गुणानुकीर्त्तन, उन के साथ क्रीड़ा अर्थात अनेक प्रकार के खेल, सर्वदा स्त्रीरूप दर्शन और स्त्रियों के साथ एकान्त मे कथा कथन, मन में स्त्री सङ्ग करने की चेष्टा करना व स्त्री मुख चुम्बनादि और यथार्थ रति क्रिया निष्पत्ति ; यही आठ प्रकार के मैथुन हैं, इन में से एक भी प्रकार का आचरण करने से ब्रह्मचर्य्य भ्रष्ट होजाता है (२)। शास्त्र की आज्ञा यही है कि ब्रह्मचारी पुरुष कदापि किसी के साथ इन्द्रिय संयोग न करे सब जीवों के प्रति हिंसा और अनुग्रह दोनों को त्याग करदे एवं दम्भ, लोभ, मोह, क्रोध, असूया,

---

(१) आयुस्तेजो बलं वीर्य्यं प्रज्ञा श्रीश्चमहायशः।
पुण्यं च मत्प्रियत्वञ्च हन्यतेऽब्रह्मचर्य्यया ॥ गौतम स्मृति अ० ४।

(२) ब्रह्मचर्य्यं सदारक्षेदष्टधामैथुनं पृथक्।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ॥३१॥
संकल्पोऽध्यवसायश्चक्रियानिष्पत्तिरेवच।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्तिमनीषिणः ॥३२॥ द० स्मृ० १ अ०।

आत्मश्लाघा, परनिन्दा से निवृत्त रहे (१)। इतनी कठोरता का उद्देश्य यही है कि जो संपूर्ण प्रवृत्तिसमूह परिस्फुरित होकर यौवन दशा के प्रारम्भ में मनुष्य को जीवन के सत्पथ से विच्युत कर देते हैं, अधर्म्म के भंवर में भविष्यत् उद्यमों को डुबाय रखते हैं, वह सकल प्राकृतिकप्रवृत्तिनिचय केवल नीतिशास्त्र के उपदेश से रुकनेवाले नहीं हैं, केवल समाज की वा राजदण्ड की ताड़ना से उन का दमन होना असम्भव है। बाल्यकाल से दृढतर अभ्यास और यथार्थ शिक्षा बिना पाये, जो लोग यौवन की दुर्दान्त प्रवृत्तियों के प्रबल उत्पीड़न से मनुष्य जीवन का सारांशरूप सच्चरित्रता की रक्षा कर सके—ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े ही है या है ही नहीं। इन्हीं सब कारणों से प्राचीन आर्य्यसमाजपरिचालक लोग निजबालकों को केवल ग्रन्थ के हाथ में समर्पण न करके, यथार्थभाव से नीतिशिक्षा का आचरण कराते थे। इस शिक्षिताचरण से जो अमूल्यरत्न आर्य्य-तनयगणद्वारा उपार्ज्जित हुए थे, वह रत्न यद्यपि इस समय हत-भाग्य भारत में नहीं है किन्तु जो कमनीय किरणजाल विकीर्णित करके वह विलीन होगये है वही सकल मनरञ्जन पुस्तकरूप कर निकर आज भी मनुष्यों की दृष्टि से छिपे नहीं हैं। आज भी न्याय, पातञ्जल, सांख्य, कणाद, मीमांसा और वेदान्त दर्शन एकबार लुप्त नहीं होगये है। आज भी रामायण, महाभारत, अष्टादश महा पुराण और उपपुराण समूह, सर्वसंहारक काल के कठोर शासन के सम्मुख संपूर्णरूप से मस्तक नहीं अवनत किये हैं। इस समय भी चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थ नष्ट नहीं हुए है। इस समय भी भास्करा-चार्य्य, आर्य्यभट्ट, बराहमिहिर प्रभृति मनीषियों की अनन्तचिन्ता के अमृतमयफलस्वरूप सूर्य्यसिद्धान्त आदि ग्रन्थसमूह काल के

(१) ब्रह्मचर्य्यवाग्नर्चन्द्रियसंयोगं कुर्व्वीतकेनचित्।
उपेक्षक: सर्व्वभूतानांहिंसानुग्रहपरीहारेण॥
आत्मस्तवपरगर्हादम्भलोभमोहक्रोधासूयाविवर्ज्जनम्।
(वाजसनेयशाखायाम्)

कराल वदनविवर में प्रविष्ट नहीं हैं। हैं तो सभी। किन्तु देखे कौन? वैदेशिकसभ्यता के प्रकाश में आज भारत आत्मविस्मृत होरहा है !!!

तृतीय—अध्याय।

* गृहस्थाश्रम—धर्म *

(विवाह)

ब्रह्मचर्य्य अवस्था में जो दृष्टि आत्मोन्नति में सीमाबद्ध रहती है वह गृहस्थाश्रम ग्रहण करने पर दीन, दुःखी, दरिद्रों के प्रति प्रसारित होती है। इस आश्रम में लोक के कर्त्तव्य कार्य्य की सीमा अतिविस्तृत है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर मनुष्य एकाकी नहीं है। स्त्री, भ्राता, भगिनी, कुटुम्ब, आत्मीय, बन्धु स्वदेश और विदेशियों के साथ कैसे व्यवहार करना होता है एवं राजा, प्रजा, धनी, दरिद्र, उत्तमर्ण, अधमर्ण, यजमान, पुरोहित प्रभु, भृत्य, रोगी, चिकित्सक प्रभृति के प्रति क्या कर्त्तव्य है, इस में गृहस्थ को विव्रत होना पड़ता है। उस के लिये संसार विशाल है, अनन्त कर्त्तव्य कर्म उस की दृष्टि के आगे पतित है।

विवाह ही से समाज की सृष्टि है। फलतः विवेचना करके देखने से विदित होता है कि मनुष्य का समाज, धर्म, नीति, स्वास्थ्य, दीर्घजीवन, मिताचार, मितव्ययिता, वंशवृद्धि, सब प्रकार की उन्नति विवाह के ऊपर निर्भर है। हिन्दू लोग विवाह को दश संस्कारों में प्रधान संस्कार कहते हैं। विवाह के ऊपर प्रत्येक जीवन का समाज का और देश का सुख दुःख, सुनीति, दुर्नीति, पाप, पुण्य, उन्नति, अवनति निर्भर है। अतएव इस गुरुतर विषय का विचार

या चिन्ता करना प्रत्येक को उचित है। जितनी ही विवाह की नियमावली निर्दोष होगी उतनी ही व्यक्तिगत और जातीय उन्नति होगी। शास्त्र में लिखित है—"यावन्नविन्दतेदारान्तावदर्द्धंभवेत्पुमान्।" जबतक पुरुष दारपरिग्रह अर्थात् विवाह नहीं करता तब तक आधा है। हिन्दुओं के अन्यान्य आश्रम गृहस्थाश्रम के आश्रय से अवस्थित है। "न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। तयाहि सहित सर्व्वान्पुरुषोऽर्थान्समश्नुते।" अर्थात् गृह ही का नाम गृह नहीं है, गृहिणी अर्थात् पत्नी ही गृह करके ख्यात है, विशेषतः पत्नीसहित होने पर ही सकल पुरुषार्थ एवं धर्म कर्म साधित होते है। स्त्री अर्द्धाङ्गिनी, स्त्री सहधर्मिणी एवं स्त्री गृहाधिष्ठात्री देवी है। सुख दुःख में, धर्म कर्म में, इसलोक परलोक में हिन्दूरमणी पति की छाया के समान अनुगामिनी है। वस्तुत, गृहस्थाश्रम धर्मरूप महावृक्ष का काण्ड पुरुष है, धर्म पत्नी शाखा है और फल पुत्र है। संपूर्ण वृक्ष जैसे उद्यान की रमणीयता को सम्पादन करता है वैसे संपूर्ण पुरुषगण गृहस्थाश्रमधारी व्यक्तियों में समाज की श्री सम्पादन करते हैं, नहीं तो फल और शाखा रहित केवल काण्डमय वृक्ष निविड़ अर्थात् निर्जन वन में रहने के योग्य होता है वैसे स्त्री पुत्र विहीन पुरुष को भी गृहस्थ समाज त्याग करके निर्जन अरण्यवास करने के लिये प्रव्रज्या (वाणप्रस्थ) करना ही परम उचित है। विना विवाह किये गृहस्थ धर्म का अनुगमन करना पातकजनक है। अतएव गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के प्रथम विवाह अवश्य आवश्यक है। *गुरुगृह में पठनक्रिया समाप्त करने के अनन्तर अखण्डितब्रह्मचर्य्यावस्था* में विवाह करना हिन्दूसमाज की विधि है। जितने दिन विद्याशिक्षा न पूर्ण हो तबतक गुरुगृह में निवास करना ही होगा। तदनन्तर विवाहादि क्रिया है। भगवान् मनु कहते हैं—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्द्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिक मेव वा॥

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदंवापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ मनु ३।१—२ ।

ब्रह्मचारी गुरुगृह में छत्तीस वर्ष पर्य्यन्त तीनों वेद पढने के लिये ब्रह्मचर्य्यधर्म का आचरण करै अथवा इस का आधा समय किंवा चतुर्थांशकाल अथवा जितने दिन तक संपूर्ण वेदपाठ और तदर्थ ज्ञान न करले उतने दिन गुरुगृह में व्यतीत करै ॥१॥ अथवा निज शाखा के अध्ययनानन्तर वेद के तीन दो किंवा एक शाखा के मंत्र क्रमश: अध्ययन करके अखण्डित ब्रह्मचर्य्यावस्था से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करै ॥२॥

भविष्य पुराण ने और भी कुछ अग्रसर होकर कहा है कि विवाह के प्रथम कुछ धनोपार्ज्जन करना अतीव आवश्यक है। विना भोजन की सुविधा विवाह करने का शास्त्र अनुमोदन नहीं करता। ऐसे विवाह को करके केवल पाप को आश्रय देना है ॥

चतुर्थ—अध्याय ।

विवाह के अयोग्य कौन हैं ?

विवाह के सम्बन्ध में हिन्दुओं के यहां एक सुनियम है। किन्तु आजकल लोग उस सुनियम पर ध्यान नही देते अतएव समाज की ऐसी अवनति या अधोगति होरही है। इसी से हम अपने लोगों में दुर्बल और पीड़ित व्यक्ति देखने को पाते हैं। शास्त्र में हम लोग "येदीना नितरांनि:स्वा," "कुष्ठाद्यैश्च महारोगै: पीडितायेच-मानवा:," "अपक्करेतसो वा ये," "वृद्धावा जीर्णवीर्य्याश्च" इत्यादि जो संपूर्ण श्लोक देख पाते हैं उन से यही ज्ञान करते हैं कि "जो लोग दीन एवं नितान्तनिर्द्धन, निर्बल हैं" "जो लोग कुष्ठादि असाध्यरोगग्रस्त है" "जो लोग अपक्कवीर्य्य अर्थात् अप्राप्तवयस्क

हैं" एवं "जो लोग वृद्ध वा क्षीण वीर्य्य पुरुष हैं" वह सब पुत्रोत्पादन क्रिया के अधिकारी नहीं हैं। कोई ऐसा न जाने कि यह सब वचन दीनहीनप्रभृति क्षतदार अर्थात् कृतविवाह व्यक्तियों को नि:स्वता और नि:सम्बलता के निबन्धन द्वारा दारोपगमन से निवृत्त होने का उपदेश देते हैं अर्थात् इन उक्त वाक्यों का यह आशय नहीं है कि यदि उक्तदोषयुक्त व्यक्ति का विवाह होचुका है तो वह दोषी होने के कारण स्त्रीगमन न करे किन्तु ऐसे व्यक्तियों के पक्ष में प्रथम ही दारपरिग्रह अनुचित है—यही इन सूत्रों का तात्पर्य्य है। जो लोग ग्रासाच्छादन करने में अशक्त हैं ऐसे उपजीविकाशून्य व्यक्तियों को दारपरिग्रह करना दुर्विषहयातना स्वरूप है; सुतरां ऐसे व्यक्तियों को विवाह अकर्तव्य है। नि:स्वव्यक्ति के विवाह करने से पृथ्वी में अनेक नि:स्व निरुपाय दरिद्रों की सृष्टि होसक्ती है, इसी कारण परभाग्योपजीवी दयाप्रार्थी व्यक्तियों की संख्या बढ़ा कर देश का अपकार करने की अपेक्षा, नि:स्व व्यक्तियों को विवाह से निवृत्त होना ही श्रेय है। कुष्ठादिरोगाक्रान्त व्यक्तियों के विवाह करने से सन्तान सन्ततिगण पिता के रोग से जर्जर होते हैं, अतएव उन के पक्ष में विवाह निषिद्ध है। अपक्ववीर्य्य व्यक्ति से समुत्पन्न सन्तान प्राय दीर्घजीवी नहीं होते, एवं जीवितकालपर्य्यन्त दुर्बलता और अन्यान्य प्रकार के रोगों से प्रपीड़ित होते हैं अतएव अपक्ववीर्य्य व्यक्ति भी विवाह के अधिकारी नहीं हैं। जो वृद्धता वा अन्य किसी कारण से जीर्णवीर्य्य हैं उन के पक्ष में भी विवाह का अनुष्ठान असङ्गत है। क्योंकि जीर्णवीर्य्य से उत्पादित सन्तान नितान्त जीर्ण-मस्तिष्क और क्षीणकलेवर होते हैं; शरीर में बलाधानमात्र नहीं होता, निरतिशय शारीरिकदुर्बलता के कारण थोडे ही दिन में कालकवल होजाते हैं और यदि जीवित भी रहते हैं तो इतने कार्य्य-शक्तिहीन होजाते है कि उन के द्वारा जगत् के किसी उपकार की सम्भावना नहीं कीजासक्ती, इसी कारण जीर्णवीर्य्य व्यक्तियों को दारपरिग्रह वा जननकार्य्य निषिद्ध है। इसी कारण से जान पड़ता

है कि दीर्घदर्शी ऋषिगणों ने "पञ्चाशोर्द्धवनंव्रजेत्" कहा है। पचास वर्ष के ऊपर वयःक्रम होने पर गृहस्थाश्रम में रहना अनुचित है ॥

हिन्दू के घर में ज्येष्ठ के अविवाहित रहने पर कनिष्ठ का विवाह नहीं होसक्ता। और ऐसा यदि करे तो परिवेदना नामक दोष घटित होता है। तब यदि ज्येष्ठ का किसी कारण से शास्त्रमत विवाह असम्भव हो तो ज्येष्ठ की अनुमति लेकर कनिष्ठ विवाह कर सक्ता है। किन्तु यदि पात्र :—

कुलशीलविहीनस्य पण्ढादिपतितस्यच।
अपस्मारी विधर्मस्य रोगिणांवेशधारिणाम् ॥
दत्तामपि हरेत्कन्या सगोत्रोढां तथैवच ॥

कुल शील हीन हो, पाण्डित्यगुण शून्य एवं पतित हो, अपस्मारी (मूर्च्छादि (मिर्गी) दुरारोग्य रोगग्रस्त) हो, एवं विधर्मी हो, रोगी एवं संन्यासीवेशधारी हो तो वाग्दत्ता कन्या का भी उस पात्र के साथ विवाह न करना चाहिये। मूर्ख, गुण शून्य, पतित अत्याचारी, महारोगी, धर्मत्यागी, और समाज विद्वेषी, ऐसे व्यक्तियों का विवाह संस्कारशास्त्र के मत में अनुचित एव असम्भव है ॥

पंचम—अध्याय।

कन्या की विवाह की अवस्था।

इस विषय में आजकल बड़ा ही गोलमाल होरहा है। एक दल कहता है कि अल्पवयस ही में विवाह करने से पतिपत्नी का परस्पर प्रणय दृढ होसक्ता है। अन्य दल कहता है कि बाल्यविवाह से विधवाओं की संख्या बढ़ती है, सन्तान अल्पायु और क्षीण

कलेवर होते हैं, सुतरां विवाह जितनी ही अधिक अवस्था में किया जाय उतना ही मङ्गलकारी है। बाल्यविवाह, चिरस्थायी यथार्थ प्रणय का उत्पादक है—इस में कोई सन्देह नहीं है। अधिकवयस में विवाह यदि सुखप्रद होता तो यूरोपीय समाज में इतना विवाह-विच्छेद न देखा जाता। बाल्यविवाह होने ही से रमणियों के विधवा होने की सम्भावना है, नहीं तो नहीं—यह बात अति अश्रद्धेय है। मृत्यु का कोई समय असमय नहीं है। स्त्री और पुरुष के जीवन प्रति लक्ष्य करके देखने से हम यही जान पाते हैं कि संपूर्ण देश की स्त्रियां पुरुष से अधिक जीवित रहती हैं (१) सुतरां अधिकवयस में विवाह होने ही से स्त्रीगणों को वैधव्ययंत्रणा भोगना नहीं पड़ती है-यह विश्वास निर्मूल है। बाल्यविवाह होनेही से सन्तानादि क्षीणकाय होंगे-यह विचार भी भ्रमात्मक है। बाल्य विवाह वस्तु एक है और सन्तान उत्पादन वस्तु अन्य एक है अर्थात् भिन्न २ हैं। अन्तिम विषय का उल्लेख शास्त्रीयमत से यथास्थान पर किया जायगा ; इस समय विवाहवयस के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है। कन्या विवाह के सम्बन्ध में महर्षि अङ्गिरा का मत अधिक प्रचलित है। उन के मत में विवाह की अवस्था ८ वर्ष से लेकर दश वर्ष तक है (२)। और महात्मा मनु के मत में आठ वर्ष से लेकर बारह वर्ष पर्य्यन्त स्त्री जाति के विवाह के योग्य समय है (३)।

(१) The proportion of deaths is greater among males than females (See Dr Roberts Practice of Medicine, Page 5)

(२) आवृत्तितीर्थगमने प्रतिज्ञातेच कर्म्मणि।
कालात्ययेचकन्याया: कालदोषो न विद्यते॥
अष्टवर्षाभवेद्गौरी नववर्षात् रोहिणी।
दशमे कन्यका प्रोक्ता अत ऊर्द्ध रजस्वला॥
तस्मात्संवत्सरे प्राप्ते दशमे कन्यका बुधै:।
प्रदातव्या प्रयत्नेन न दोष: कालदोषत:॥ (अङ्गिरा)

(३) त्रिंशद्वर्षोवहेत्कन्यां हृद्यांद्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्म्मेसीदति सत्वर:॥ मनु ९।९४।

मोटी बात या सिद्धान्त यही है कि रजोदर्शन के प्रथम ही विवाह देना शास्त्र की विधि है। महाभारत में भी इस भांति के विवाह का विधान सुस्पष्ट देखा जाता है, यथा :—"अतोऽप्रवृत्ते रजसि कन्यां दद्यात्पितासकृत्" अर्थात् रज प्रवृत्ति के प्रथम ही पिता कन्या सम्प्रदान करै। क्योंकि वृहस्पति के मत में "समय पर जो पिता कन्यादान नहीं करै और पति पत्नी सङ्ग न करै और पुत्र माता का पालन न करै वह पापी है और धर्म शास्त्रानुसार दण्डनीय हैं" (१)। हम लोगों के देश में जो व्यक्ति रजस्वला कन्या का पाणिग्रहण करै उस को वृषलीपति कहते हैं और उस के साथ कोई आहारादि वा उस का श्राद्धादि नहीं करता (२)। एक प्रकार उस को समाजच्युत कर देते है। बाल्यविवाह के जो महाशय पक्षपाती नहीं हैं वह कहते है कि प्रथमतः "पूर्व्व में जो मनु के मत का उल्लेख किया गया है (अर्थात् जिस में "त्रिंशवयस्क व्यक्ति द्वादश वर्षीया अभिमत कन्या का पाणिग्रहण करै। चौबीस वर्षवयस्क व्यक्ति अष्टवर्षा कन्या का पाणिग्रहण करै। इस के पूर्व विवाह करने से धर्म से अवसन्न होना होता है" कहा गया है) वह प्रमाण करने योग्य नहीं है; कारण, ऐसा होने से मनु कभी न कहते कि—

कामममरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ मनु ९।८९।

ऋतुमती होने पर भी कन्या वरं यावज्जीवन पितृगृह मे रहै किन्तु गुणहीन व्यक्ति के साथ कदापि इसे न ब्याहै॥८९॥ अतएव प्रमाणित होता है कि ऋतुमती होने के प्रथम विवाह होना मनु

---

(१) कालेऽदातापितायस्तु कालेचानुपयन्पतिः।
मातुश्चारक्षिता पुत्रः दण्ड्यो धर्म्मेण पापभाक्॥ (वृहस्पतिः)

(२) पितुर्गृहे च या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता।
भ्रूणहत्यापितुस्तस्याः साकन्या वृषलीस्मृता॥
यस्तु तां वरते कन्यां ब्राह्मणो ज्ञानदुर्ब्बलः।
अश्राद्धेयमपांक्तेयं तं विद्याद्वृषलीपतिम्॥ (अत्रि एवं काश्यप)

का मत नहीं है, एवं दूसरे ऋतुमती होने के प्रथम यदि विवाह शास्त्रसिद्ध है तो द्वादशवर्षीया बालिकाओं के रजोदर्शन नहीं होता, सुतरां आयुर्वेद के मत में इस प्रकार का विवाह कभी अनुमोदित नहीं होसक्ता।" इस का उत्तर यही दिया जासक्ता है कि ऋतुमती होने के पश्चात् विवाह का आदेश केवल वर के सद्गुण सम्पन्न होने की अधिक प्रशंसार्थ है—ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि जैसे एक ओर गुणवान् वरके न मिलने पर कन्याको आजीवन घर में रखने की विधि है वैसे गुणवान् वर के मिलने पर आठ वर्ष के प्रथम भी कन्या सम्प्रदान किया जासक्ता है, मनु की ऐसी भी व्यवस्था देख पड़ती है, यथा—

उत्कृष्टायाभिरूपाय वरायसदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि॥ मनु ९।८८।

सर्वाङ्गसुन्दर और कुल व शील में उत्कृष्ट, रूपवान् वर पाने पर कन्या विवाह के योग्य भी न हो तो भी उस का सम्प्रदान करे। दूसरे द्वादश वर्ष वा इस के अन्त में रजोदर्शन का काल कह कर आयुर्वेद में स्पष्ट उल्लेख देखा जाता है। सुश्रुत १४ अ० शोणितवर्णनीय सूत्र में कहते हैं—द्वादशवर्ष के पश्चात् रस से स्त्री लोकों के रज संज्ञक रक्तप्रवर्त्तित होकर पचास वर्ष की अवस्था में क्षय को प्राप्त होजाता है (१) सुश्रुत के अन्यस्थान में भी अर्थात् ३य अ० गर्भविक्रान्तिशारीर स्थान में भी हम देखने पाते हैं कि "द्वादश वर्ष में प्रवर्तमान वही रजोरक्त पचास वर्ष में शरीर ज़रा जर्ज्जर होने पर क्षय को प्राप्त होता है (२)। वाग्भट्ट का मत भी इसी मत को पुष्ट करनेवाला देख पड़ता है, यथा—द्वादश वर्ष के बाद स्त्री जाति के महीने २ तीन दिवस पर्य्यन्त रस धातु का परिणाम रूप रज.संज्ञक

---

(१) रसादेवस्त्रियारक्तं रजः संज्ञं प्रवर्त्तते।
तद्वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम्॥ सुश्रुत।

(२) तद्वर्षाद् द्वादशात्काले वर्त्तमानमसृक्पुनः।
जराजीर्णशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम्॥ सुश्रुत।

रम्भ प्रवर्त्तित होता है एवं वह पचास वर्ष के पश्चात् क्षय को प्राप्त होता है (१) अतएव देखा जाता है कि द्वादश वर्ष में वा द्वादश वर्ष के अनन्तर ही स्त्री जाति के प्रथम रजोदर्शन का समय है (२)। आयुर्वेद शास्त्र भी इसी द्वादश वर्ष ही में स्त्री जाति का विवाह कर देने की आज्ञा देता है। सुश्रुत कहते हैं—"अथास्मै पञ्चविंशति-वर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्" पश्चात् पञ्चविंशतिवर्षवयस्क पुरुष के साथ द्वादशवर्ष वाली कन्या का प्रदान करना उचित है। इस समय देखा जाता है कि हमारे धर्मशास्त्र का जो मत है आयुर्वेद का भी वही मत है। एतद्भिन्न रजोदर्शन के पूर्व स्त्रीजाति का विवाह कर देने के सम्बन्ध में एक और सुयुक्ति है। प्रथम रजोदर्शन होने के पश्चात् ही से स्त्रियों का शारीरिक और मानसिक परिवर्त्तन होता है। उस समय वह बालिका स्वभाव परित्याग करके युवतियों के योग्य प्रकृति की अधिकारिणी होती है। हिन्दुओं का यह विश्वास मिथ्या नहीं है। पाश्चात्य शारीरिकतत्त्ववित् पण्डित गण भी ठीक इसी के अनुरूप कहते हैं। यथा—

MENSTRUATION

The effects of the development of this function upon the body and mind of a young girl are very striking. The figure enlarges, becomes rounder and more fully formed, the pelvis expands, mammæ en-

---

(१) मासि २ रजः स्त्रीणां रसजं स्रवति त्र्यहम्।
वत्सराद्द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम्॥ वाग्भट्ट।

(२) "द्वादशवत्सर वा द्वादशवर्ष के अनन्तर" इस प्रकार विकल्प निर्देश का तात्पर्य यह है कि "द्वादशात्" यह पद पञ्चमीविभक्त्यन्त निर्दिष्ट होने से, ऊर्ध्व शब्द के साथ इस का योग न करके "ल्यब्लोपे पञ्चमी" इसी सूत्र के अनुसार ल्यबन्त, अधिकृत्य वा अतीत्य शब्द, द्वादश शब्द के परे लोप किया जासक्ता है। सुतरां "द्वादशवर्ष मे वा द्वादशवर्ष के अनन्तर" यह दोनो प्रकार के अर्थ ग्रहण किये जासक्ते हैं॥

large and the general bearing becomes graceful and dignified The mental change is as remarkable, the pursuits of girlhood are exchanged for more womanly interests and a more exquisite perception of her position and relative results in higher enjoyment, veiled by a more delicate modesty These changes are rapid and occurring at this peculiar period doubtless fit the individual for the more perfect fulfilment of the duties about to devolve upon her (See Theory and Practice of Midwifery by Dr Churchill, Page 121)

"अर्थात् प्रथम रजोदर्शन के पश्चात् स्त्रियों का शारीरिक और मानसिक विशेष परिवर्तन देखाजाता है, जैसे, शरीर पुष्ट, गठन सुगोल और शोभायुक्त, नितम्बदेश प्रसारित, स्तनद्वयवर्द्धित एवं सब अवयव सुदृश्य और लावण्ययुक्त होते हैं। मानसिक परिवर्तन भी विचित्ररूप से देखा जाता है। यथा, बाल्यकाल का अनुष्ठान त्याग करके वह लोग स्त्रीजाति के कार्य्य और आचरण में मन लगाना, सर्वदा विनीत और लज्जित भाव से रहना, अपनी दूसरी अवस्था जान कर उस के योग्य सुख सम्भोग की इच्छा एवं जिस महत् अभिप्राय से स्त्रीजाति की सृष्टि हुई है शीघ्र ही उस कार्य्य की योग्यता इत्यादि का होना प्रभृति" ॥

उल्लिखित मत के पढ़ने से यही प्रतीत होता है कि स्त्रीजाति की पवित्रता रक्षित रखने के लिये ऋतु के प्रथम ही कन्या का विवाह कर देना उचित है। ऋतु धर्म के अनन्तर यदि कोई चित्त चांचल्यवश दुर्बलता का परिचय देय—इसी आशङ्का से सुविज्ञ आर्य्य पण्डितगण ऋतुकाल के प्रथम हीं विवाह कर देने की विशेष व्यवस्था कर गये हैं। बालिकावयस में विवाह होने ही से हिन्दू रमणियों के धैर्य्य, सुशीलता, मृदुता, लज्जा, भय, सरलता, वश्यता आदि गुण जगद्विख्यात हुए हैं। अतितरुणावस्था में बालिकागण के सुकुमार हृदय के प्रेमानुराग का प्रस्फुरण होना जैसे आरम्भ होता है उस को पतिलाभ करता है अर्थात् बाल्यविवाहिता

बालिकाओं का प्रेमानुराग तरुण अवस्था के आरम्भ में पति पर पूर्णतया होता है। उन लोगों का पूर्व्वानुराग इसी कारण यथा योग्य आधार पाकर क्रमशः स्फूर्ति लाभ करता है। बालिका का पूर्व्वानुराग प्रगाढ़ होकर क्रमशः सुदृढ़ पातिव्रत्य के रूप में परिणत होजाता है। अधिक अवस्था के विवाह में यह सुविधा घटित नहीं होसक्ती। जो अधिककाल कि चिरकाल पितृगृह में रहती है वह सब रमणियां कुछ अधिकतर स्वतन्त्र प्रकृति, निर्लज्ज और अवाध्य होजाती है॥

षष्ठ—अध्याय।

पुरुष के विवाह की अवस्था।

अखण्डित ब्रह्मचर्य्यावस्था से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना ही शास्त्र विहित विधि है। जितने दिन अध्ययन शेष न हो उतने दिन विवाह न करना चाहिये। अध्ययनकाल निरूपण के सम्बन्ध में मनु का मत यह है—

> षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौत्रैवेदिकं व्रतम्।
> तदर्द्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥ मनु ३।१

ब्रह्मचारी गुरुगृह में छत्तीस वर्षतक त्रिवेदाध्ययनार्थ ब्रह्मचर्य्य धर्म का आचरण करें, अथवा इस का आधा समय किंवा चतुर्थांश काल अथवा जितने दिन वेदार्थ न पढ़ले तितने दिन गुरुभवन में व्यतीत करे॥

उपनयन संस्कार विना वेदपाठ का अधिकार नहीं होता। अष्टम वर्ष उपनयन का प्रशस्त समय है। वेदपाठ के निम्नतम नव वर्ष एवं उपनयन ग्रहण के निम्नतम अष्ट वर्ष मिलाने से किञ्चित् न्यूनाधिक अष्टादशवर्ष, पुरुष के विवाह की निम्नतम संख्या कही जासक्ती है; किन्तु इस प्रकार निम्नतमवयस में विवाह होना मनु का अभिमत नहीं है, इसी कारण उन्होंने अन्य स्थान में कहा है—

त्रिंशद्वर्षोवहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मेसीदति सत्वरः ॥ मनु ९।९४ ।

त्रिंशवर्षीययुवक मनोमत द्वादशवर्षीया कन्या को पत्नीरूप से ग्रहण करे; चौबीस वर्ष का जन अष्टवर्षा कन्या का पाणिग्रहण करे किन्तु इस से प्रथम विवाह करने से धर्म में अवसन्न होना होता है ॥

मनु के अनुरूप महर्षि सुश्रुत कहते है—"अथास्मै पञ्चविंशति-वर्षाय द्वादशवर्षांपत्नीमावहेत ।" पञ्चविंशतिवर्षवयस्क पुरुष के साथ द्वादशवर्षीया कन्या का विवाह करे। साधारणतः पुरुष को इस भांति यौवनावस्था मे विवाह कर्त्तव्य है। किन्तु जो लोग भोग विलास में वर्द्धित हैं इन्द्रिय तृप्त्यर्थ तृषित हैं वह अट्ठारहवें वर्ष में भी विवाह कर सक्ते हैं। इस से कोई विशेष क्षति नहीं है क्योंकि भुजबल भीम और वाग्भट्ट मे (१) बीस वर्ष की अवस्था में सन्तानो-त्पादन का विधान है। अष्टादश वर्ष में विवाह केवल अवस्था विशेष का विधानमात्र है, ऋषियों का अभिमत नहीं है ॥

सप्तम—अध्याय ।

अन्यान्य देशों में थोड़ी अवस्था में विवाह व्यवस्था ।

भारतवर्ष मे विवाह की निम्नतमवयस कितनी हैं—सो हम प्रथम दिखाय आये है। इस समय अन्यान्य सभ्यदेशों में किस प्रकार न्यूनवयस मे विवाह होसक्ता है—वह कहा जाता है। पुर्त्तुगाल में १४ वर्ष की अवस्था में पुरुष एवं १२ वर्ष की अवस्था में स्त्री विवाह कर सक्ती हैं। जर्मनी मे १८ वर्ष की अवस्था विना हुए कोई पुरुष विवाह नहीं कर सक्ता। ग्रीसदेश में १७ वर्ष की अवस्था में पुरुष एवं १२ वर्ष की अवस्था में बालिकाये विवाह कर सक्ती हैं। फ्रान्स

---

(१) पुमान्विंशतिवर्षश्चेत्पूर्णषोडशवर्षया ॥ भुजबल भीम ।
पूर्णषोडशवर्षास्त्री पूर्णविंशेन सङ्गता ॥ वाग्भट्ट ।

एवं बेलजियमदेश में १८ वर्ष की अवस्था में पुरुष एवं १६ वर्षवयस में बालिका विवाह कर सकी है। स्पेनदेश में १४ वर्ष में पुरुष एवं १२ वर्ष में स्त्री विवाह कर सकी है। सुइजरलैण्ड में १७ वर्ष में पुरुष एवं १२ वर्ष में स्त्री विवाह कर सकी है। रशिया में १८ वर्ष के प्रथम कोई पुरुष विवाह नहीं कर सका। आष्ट्रिया में १८ वर्ष की अवस्था में स्त्री पुरुष विवाह कर सके है। तुर्किस्तान में बालक बालिका चलने फिरने के योग्य होते ही अथवा विवाह सम्बन्धीय सब आवश्यक बातें जब जानने लगते है तब विवाह कर सके हैं। हांगारि में रोमन् कैथोलिकों में पुरुष १४ वर्ष की अवस्था में एवं स्त्रियां १२ वर्ष की अवस्था में और प्रोटेष्टाण्ट लोगों में पुरुष १८ वर्ष में एवं स्त्री १५ वर्ष में विवाह कर सकी है॥

अष्टम—अध्याय।

❋ वयोवृद्धा कन्या का विवाह ❋

स्वामी की अपेक्षा स्त्री की अवस्था अल्प होना चाहिये। जो लोग पाश्चात्य सभ्यता के वशवर्ती होकर अपनी अपेक्षा अवस्था में अधिक रमणी का पाणिग्रहण करते हैं वह लोग युक्ति विरुद्ध कार्य्य करते है। इस प्रकार का विवाह विज्ञान सम्मत नहीं होसका। प्रवल इन्द्रिय परतन्त्रता ही ऐसे विवाह का कारण है। आयुर्वेद के मत में यदि स्वामी स्त्री की अपेक्षा अति बालक और अपरिपक्क वीर्य्य है तो वैसी वयोवृद्धा के सहवास में पुरुष का वीर्य्य अधिक क्षय होने से उस अल्पवयस्क व्यक्ति का शरीर अल्प जल वाले जलाशय के न्याय शुष्क होजाता है (१)। विदित होता है इसीलिये हमारे देश में स्वामी की अपेक्षा स्त्री का अल्पवयस्क होना—विहित है। स्वामी से अवस्था में छोटी और तरुणी; ऐसी स्त्री के सहवास से जो सन्ता-

(१) अतिबालोह्यसम्पूर्णसर्व्वधातुः स्त्रियोव्रजन्।
उपतप्येत सहसातडागमिवकालजम्॥ (चरकचिकित्सास्थान अ० २)

नादि उत्पन्न होते हैं वह हृष्ट पुष्ट और चिरजीवी होते हैं (१)। आयुर्वेद प्रणेता ऋषियों का अभिमत यही है कि तरुणी के सहवास करने से वृद्ध भी युवा होजाता है एवं वयोवृद्धा स्त्री के सहवास में युवा व्यक्ति भी वृद्ध होजाता है (२)। किन्तु यह कह कर हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि वृद्धलोग तरुणी स्त्रियों से विवाह करें, हम ऐसे विवाह के पक्षपाती नहीं हैं; कारण प्रथम ही कहचुके हैं कि वार्धक्य अवस्था प्राप्त वा अन्य किसी कारण से नितान्त जीर्ण वीर्य्य व्यक्तियों को विवाह करना महाअनुचित है॥

नवम—अध्याय।

रजस्वला कन्या का विवाह और तत्कर्तृक स्वामिनिर्व्वाचन।

हम प्रथम मनु का श्लोक उद्धृत करके कहचुके हैं कि "ऋतुमती होकर भी कन्या आजीवन पितृनिलय में निवास करे वह अच्छा है तथापि निर्गुण वर के साथ विवाह न करे" (३)। इस प्रकार की विधि केवल गुणवान् पात्र के अभाववश प्रयोज्य है नहीं तो नहीं। उत्कृष्ट वर प्राप्त होने पर कन्या विवाह योग्य न भी हो तो भी उस का विवाह कर देना उचित है (४)। स्वयं उपयाचिका होकर हिन्दू कन्यागण कभी वर का अन्वेषण नहीं करती थीं कारण, उन को स्वेच्छापूर्वक कार्य्य करने का कोई अधिकार न था। बालिका अवस्था में वह पूर्णतया पिता की आज्ञा के आधीन रहती थीं, इस

---

(१) न्यूनेवै रेतः सिक्तं मध्यं स्त्रियं प्राप्य स्थविष्ठं भवति॥

(ऐतरेय ब्राह्मण मं० ६ अ० ३)

(२) वृद्धोऽपि तरुणींगत्वातरुणत्वमवाप्नुयात्।
वयोधिकांस्त्रियं गत्वा तरुणः स्थविरायते॥

(३) एवं (४) मनु ९ अध्याय ८९ और ८८ श्लोक देखो।

का प्रमाण मनु के "पितारक्षतिकौमारे" इत्यादि श्लोकों से मिलता है। सुतरां वह स्वेच्छा से पिता की आज्ञा उल्लंघन करके घर के बाहर जाकर वर का अन्वेषण नहीं करती थीं—यह स्वीकार करने योग्य है। तथापि पिता आदि दानाधिकारी गुणवान् वर को कन्या संप्रदान न करें तब ऋतुमती होने पर भी कन्या तीन वर्ष पर्य्यन्त प्रतीक्षा करके स्वयम्वरा होसक्ती थी (अर्थात् अपने योग्य पति को निर्व्वाचन कर लेने की उस को स्वतन्त्रता प्राप्त थी) (१)। क्योंकि समय पर पिता आदि द्वारा अदीयमाना कन्या स्वयं किसी पुरुष को स्वामी बनाले अर्थात वर—वरण करले तो उस को कुछ पाप नहीं है (२)। शास्त्र का यह अभिमत है, किन्तु ऐसी स्वयम्वरा कन्या को पितृ मातृ भ्रातृ दत्त भूषणादि ग्रहण करने का अधिकार न था, ग्रहण करने से वह चौर्य्यवृत्ति के रूप मे परिगणित होते थे (३)। इसी से विदित होता है कि पिता आदि की आज्ञा उल्लंघन करके स्वयम्वरा होने पर कन्या, पिता माता आदि के स्नेह से वञ्चिता हो जाती थी अर्थात् पिता माता का कन्या स्नेह नष्ट होजाता था। जो हो उल्लिखित शास्त्र मतवाद से यही प्रतीत होता है कि, किसी कारण से रजोदर्शन के पूर्व विवाह न होने से ऋतु धर्म के अनन्तर कन्या का विवाह होसक्ता है, यह मनु की विशेष विधि है। किन्तु इस का यह भी तात्पर्य्य नहीं है कि पिता माता इच्छापूर्वक निज गृह में ऋतु धर्मवती करके कन्या का विवाह करें और कन्या भी पिता माता का शासन उल्लंघन करके निज पति का अन्वेषण करलें—यह भी शास्त्र का आदेश नहीं है॥

---

(१) त्रीणिवर्षाण्युदीक्षेतकुमार्य्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तुकालादेतस्माद्विन्देतसदृशं पतिम्॥ मनु ९।९०।

(२) अदीयमाना भर्त्तारमधिगच्छेद्यदिस्वयम्।
नैनः किञ्चिदवाप्नोतिनचयं साधिगच्छति॥ मनु ९।९१।

(३) अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदितंहरेत्॥ मनु ९।९२।

दशम—अध्याय।

विवाह में कन्या के सम्बन्ध में क्या देखना चाहिये ?

विवाह के पूर्व्व कन्या के जिस २ विषय पर वर को लक्ष्य रखना चाहिये वह यह हैं — * * *

अनन्यपूर्व्विकां कान्तामसपिण्डांयवीयसीम् ॥५२॥
अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्।
पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा ॥५३॥
दशपूरुषविख्यातात्श्रोत्रियाणां महाकुलात्।
स्फीतादपिनसञ्चारिरोगदोषसमन्वितात् ॥५४॥
एतैरेवगुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः।
यत्नात्परीक्षितः पुंस्त्वे युवाधीमान् जनप्रियः ॥५५॥
याज्ञवल्क्यसंहिता १ अध्याय।

जो अपरद्वारा उपभुक्ता नहीं है, कान्तिमती, असपिण्डा (पितृबंधु से अधस्तन सप्तम एवं मातृबंधु से अधस्तन पञ्चम पर्य्यन्त को सपिण्ड कहते है, उन से भिन्न), वय कनिष्ठा (छोटी), अरोगिणी (अर्थात् जिस के कोई असाध्य रोग नहीं है) भ्रातृयुक्ता, असमान प्रवरा, असगोत्रा एवं मातृपक्ष से पञ्चम पुरुष के और पितृपक्ष से सप्तम पुरुष के पर—वर्तिनी सुलक्षणा कन्या के साथ विवाह करना चाहिये। मातृपक्ष के पांच पुरुष एवं पितृपक्ष के पांच पुरुष, इन्हीं दश पुरुषों के विद्यादि गुणों से अति सुविख्यात, पुत्र, पौत्र, दास, दासी, धन, धान्यादि, समृद्ध, ऐसे श्रोत्रियों के अर्थात् वेदादि शास्त्राध्ययन करने वालों के महाकुल में विवाह करने का नियम है किन्तु कुष्ठ प्रभृति सञ्चारी रोग, किंवा क्रियाहीनत्वादि दोषदूषित होने पर उक्त कुल की कन्या से विवाह नहीं कर्तव्य है। (पुरुष सम्बन्ध्य) इन संपूर्ण गुणों से परिपूर्ण एवं दोषवर्ज्जित, सवर्ण, श्रोत्रिय, पुंस्त्व विषय में विशेष यत्नपूर्व्वक परीक्षा किया हुआ, युवा, बुद्धिमान् एवं जनप्रिय व्यक्ति वर पात्र होने के योग्य है॥

हमारे देश में सपिण्डा कन्या से विवाह नहीं होसक्ता। यह सपिण्डा विवाह जैसे शास्त्र विरुद्ध है वैसे ही विज्ञान के भी विरुद्ध है। स्वजातीय धातु के संयोग से जो सन्तान उत्पन्न होते है उन में अधिकांश के ही कुष्ठ आदि घोरतर रोग जन्मने की विशेष सम्भावना है। डाक्टर रड़क साहब कहते हैं कि उन्होंने विलायत में एक रक्त के संसर्ग में विवाहित एक परिवार में ९ सन्तानों में ८ को बधिर और गूंगा होते देखा है। एक रक्त के संस्रव में विवाह होने का और एक प्रधान दोष यह है कि वंशगत व्याधि स्थित रहने से उन के सन्तान सन्ततिगण प्रबलरूप से उन व्याधियों द्वारा आक्रान्त रहते हैं (१)"। मुसल्मानों के वंश में जितने जड व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है, स्वजातीय धातु संयोग ही उस का एक प्रधान कारण निर्देश किया जासक्ता है। जात कर्म्मादि संस्कार विहीन, वेदाध्ययन रहित कुल में विवाह करने से सन्तानादि का विद्वान् सच्चरित्र, धार्मिक होना एकान्त असम्भव है। कारण जिस वंश में कोई सत्कार्य्य नहीं है, विद्या की चर्चा नहीं है उस वंश में किस भांति शुभ फल की आशा की जासक्ती है सुतरां ऐसे कुल में विवाह करना निषिद्ध है। कन्यामात्र प्रसूतकुल मे कन्या सन्तानाधिक्य होसक्ता है, रोग ग्रस्त कुल में रोग का संचार होना कुछ आश्चर्य नहीं है। विशेषत मनु के मत मे "ज्ञ्यामयाव्यपस्मारि, श्वित्रिकुष्ठिकुलानि च" मनु. (३।७) अर्श, राजयक्ष्मा, अपस्मार (हिष्टिरिया आदि मूर्च्छा रोग), श्वित्र एवं कुष्ठ रोग से जो कुल आक्रान्त हैं उन में विवाह करने का संपूर्ण निषेध है; इस का कारण यही है कि ऐसे रोग वंश परम्परा से चले जाते हैं, नष्ट नहीं

(1) The consequence of the *intermarriage of persons of the same blood* such as first or second cousins is to perpetuate and intensify any constitutional infirmity in the next generation

A large proportion of those children who are born with defective senses—blind, deaf, dumb, &c,—are the offsprings of near relations (Lady's Manual by E H Ruddock, M D, page 113—114)

होते हैं। यही सब देख सुन कर विवाह करने में मङ्गल होता है नहीं तो कष्ट मिलता है॥

एकादश—अध्याय।

विवाह में कोष्ठी (जन्मपत्र) दिखाने की प्रथा।

हिन्दुओं में विवाह के प्रथम कोष्ठी गणना करके देखने की प्रथा है। अनेक पाश्चात्य सभ्यता के आलोक में आलोकित और गर्व्वान्धतम से समाच्छन्न व्यक्तिगण इस प्रथा को कुसंस्कार जान कर हंसते हैं किन्तु यह उन का भ्रम है। इस में वैज्ञानिक रहस्य विद्यमान है। स्त्री कितनी ही सुन्दरी हो, कितनी ही गुणवती हो पर स्वामी की कलेवराग्नि के साथ उस के कलेवराग्नि का सामञ्जस्य बिना हुए विषम विभ्राट् उपस्थित होता है। इस के दोष से स्वामी के प्राणों का नाश भी होसक्ता है एवं स्वामी के दोष से स्त्री के शरीर में रोग उत्पन्न होसक्ता है। इसी कारण "नाऽपरीक्ष्यस्पृशे-त्कन्यामविज्ञाता कदाचन" अर्थात बिना परीक्षा किये अनजानी कन्या का पाणिग्रहण न करे—इस प्रकार की आज्ञा शास्त्र में देखी जाती है। और यदि शरीराग्नि के साथ शरीराग्नि का परस्पर सामञ्जस्य है तो कोई विघ्न या विपत्ति नहीं है—परम सुख से कालातिपात होसक्ता है। सब ही कायाग्नि समान नहीं है। यदि ऐसा हो तो पशु शरीर का ताप मानव शरीर का हित क्यों नहीं करता और छाग मेष और मृग शरीर का ताप यक्ष्मारोगी को उपकारी क्यों है? इस प्रकार की अनेक लता हैं कि उन के दीर्घकाल आलिंगन करने से, तद्युक्त प्राणी वृक्षगण, मृदशुष्क होकर मर जाते हैं। और इस प्रकार की लता व वृक्ष भी है कि वह परस्पर संसर्ग से नवजीवन धारण करते है। वृद्ध को आलिंगन करने से कनिष्ठ की क्षति, प्रत्यक्ष देख पड़ती है। इसी कारण विदित होता है कि हम लोगों के देश में वृद्धा स्त्रियों के पास बालकों को

नहीं सोने देने की रीति है। जो हो कायाग्नि उपशम करने की वस्तु नहीं है। शरीरतत्त्ववित आर्य्य कहते हैं कि इस भौतिक शरीर में दश प्रकार की अग्नि अर्थात् तेज है। वही अग्नि जब तक स्वस्थ रहती है तब तक कोई रोग नहीं होता (१)। वैद्यक शास्त्र में भी कायाग्नि सम्बन्ध में वायु, पित्त, कफ विभाग से मनुष्य की कायाग्नि वा प्रकृति, भिन्न २ देख पड़ती है। अंगरेजी आयुर्वेद शास्त्र में भी चार प्रकार की प्रकृति का उल्लेख देखा जाता है (२)। शरीर तत्त्ववित् पण्डितगण ने कौन के शरीर में किस प्रकार की अग्नि है? यह निदर्शन करने के लिये शारीरिक गठन विधान से मनुष्य का विभाग किया है। इताली के प्रोफ़ेसर लमब्रसो और विलायत के ह्वाभेलक एलिस प्रभृति मनीषीगणों ने मानवचरित्र जानने के लिये शारीरिक गठन की विलक्षणता से मनुष्य विभाग किया है। जो हो, हमारे देश में वात्स्यायन मुनि के मत का अनुसरण करने वाले कहते हैं कि शंखिनी, हस्तिनी, चित्रिणी, पद्मिनी यही चार जाति की नारी हैं। शश मृग आदि पुरुष भी चार प्रकार के हैं। ज्योतिः-शास्त्रज्ञ कहते हैं कि मनुष्यों में देवगण राक्षसगण और नरगण हैं। समान २ अर्थात् देव से देव, राक्षस से राक्षस, मनुष्य से मनुष्य; इस भांति संयोग होने से विघ्न नहीं होता अन्यथा विशेष विघ्न की सम्भावना है। कुछ हो, जो विपद में बंधु, प्रमोद भवन में सखी, परिचर्य्या में दासी, पवित्रता में देवी, आहार विहार शयन स्वप्न में और जीवन में संगिनी है; उसी चिरसंगिनी के साथ जीवन सङ्गी का प्रकृति वैषम्य दुःसह परिताप एवं घोरतर निरययातना है!!!

---

(१) "भ्राजकोऽरञ्जकश्चैव वातकृत्पूलेष्मकृत्तथा। पाचकोरेचकः षष्ठोदाहकः पोषकोऽष्टमः॥ शोषको बन्धकश्चेति देहेस्मिन्दशवह्नयः। वह्निर्बल-प्रदोलोके वह्निरायुः प्रदायकः॥ स्वस्थोयावद्भवेद्वह्निर्नरस्तावन्निरामयः। मिथ्यान्नपानसंसर्गानेकधाकारणैः सच। विकृतिं याति भूतानां विपद्यन्ते च तेन ते॥"

(2) Four temperaments are generally recognised—the sanguine, the phlegmatic, the bilious, and the nervous—*Hooper.*

द्वादश—अध्याय।

कुलीन को कन्या देना।

ऊपर लिखी हुई प्रथा बङ्गदेश में अधिकतर देख पड़ती है। यदि कन्या का पिता कुलीन वर को अपनी कन्या ब्याह सके तो वह अपने को कृतार्थ समझता है। कुलीन को कन्या देने की प्रथा अत्यन्त उत्तम है इस में कोई भी सन्देह नहीं है। किन्तु जिन सब कुलों में केवल रुपये पैसे के ऊपर दृष्टि है और प्रथम में हिताहित की विवेचना नहीं है, धन के लोभ से जिस कुल में बहुत विवाह करना प्रचलित है और विवाह के पश्चात् जिस कुल में स्त्री से प्रायः कोई सम्बन्ध नहीं रहता उस कुल में कदापि कन्यादान न करना। अपनी जाति में जो वंश गुण सम्पन्न और दोष हीन है वही कुल नाम के योग्य है, नहीं तो नहीं। कुलीन के नवलक्षण हैं यथा—

आचारोविनयो विद्या प्रतिष्ठातीर्थदर्शनम्।
निष्ठावृत्तिस्तपोदानं नवधा कुललक्षणम्॥

सदाचार, विनय, विद्या, प्रतिष्ठा, तीर्थदर्शन, निष्ठा, वृत्ति, तप और दान यही नव कुल के लक्षण हैं अर्थात् यह नव बातें जिस वंश में हों वही कुल है॥

कन्या जिस घर में सुख से रहे उसी घर में कन्यादान उचित है। उच्च कुल वा नीच कुल में कन्या देना अनेक स्थलों में दुःख का कारण होजाता है। इसी लिये ऋषिगण "अपने बराबर के कुल में कन्यादान करना ही कल्याणकारी है"—ऐसा कहगये है, क्योंकि ऐसे विवाह में कन्या को सुख होता है, शास्त्र कहता है—

ययोरात्मसमंवित्तं ययोरात्मसमंवय.।
तयोर्मैत्रीविवाहश्चनोत्तमाधमयोः क्वचित्॥

अर्थात् धन, जाति, ऐश्वर्य, रूप, अवस्था आदि में जो समान हैं उन्हीं की मित्रता और विवाह योग्य है और उत्तम अधम की मित्रता और विवाह कदापि उचित नहीं है॥

त्रयोदश—अध्याय।

विवाह का प्रकार—भेद।

विवाह आठ प्रकार का है जैसे १ ब्राह्म, २ दैव, ३ आर्ष, ४ प्राजापत्य, ५ आसुर, ६ गान्धर्व, ७ राक्षस, ८ पैशाच, इन में पैशाच विवाह अत्यन्त अधम है (१)। कन्या को मूल्यवान् वस्त्र से आच्छादित करके एवं अलङ्कार आदि से सम्मानित करके विद्या और सदाचार युक्त वर को स्वयं बुला कर कन्या देने को ब्राह्म विवाह कहते हैं (२)। ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ के पीछे उसी यज्ञ में यज्ञ कराने वाले आचार्य अलङ्कार युक्त कन्या के देने को दैवविवाह कहते हैं (३)। यज्ञादि अवश्य कर्तव्य धर्म के लिये वर से दो जोड़ी बैल या एक जोड़ी लेकर उस को विधि पूर्वक कन्या देने को आर्ष विवाह कहते हैं (४)। "तुम दोनो गृहस्थ धर्म का पालन करो" यह अनुरोध करके यथाविधि वर को अलंकृता कन्या के देने को प्राजापत्य विवाह कहते हैं (५)। शास्त्र के मत से नहीं किन्तु स्वेच्छापूर्वक कन्या या पिता एवं कन्या को धन देकर जो कन्या का लेना है वह आसुर विवाह है (६)। कन्या एवं वर दोनों के परस्पर अनुरागवश जो मिलन हो उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं (७)। कन्या पक्ष के

---

(१) ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः। गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ (२) आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतशीलवते स्वयम्। आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्त्तितः॥ (३) यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते। अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्म्मं प्रचक्षते॥ मनु ३।२१ २३—२४। (४) एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्म्मतः। कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्म्मः स उच्यते॥ (५) सहोभौ चरतां धर्म्ममिति वाचानुभाष्य च। कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥ (६) ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः। कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म्म उच्यते॥ (७) इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः॥

लोगों को मार कर उन के घर को विध्वस्त करके "हाय मर गई"- कह कर रो रही कन्या को हर कर उस के साथ विवाह करने को राक्षस विवाह कहते है (६)। सोई हुई, मद्य पीकर अचेत अथवा उन्मत्ता स्त्री के प्रसंग को पैशाच विवाह कहते हैं। आठ प्रकार के विवाहों मे यही सब से अधम है (७)। प्रथम चार प्रकार के विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य) सब वर्णों के लिये प्रशस्त है एवं आसुर, गान्धर्व व राक्षस विवाह केवल क्षत्रिय के लिये प्रशस्त है एवं पैशाच विवाह नराधमों के योग्य है। ब्राह्म, दैव, आर्ष एवं प्राजापत्य विवाह धर्म जनक है शेष विवाह भोग जनक है। हम लोगों के देश मे इस समय केवल ब्राह्म आसुर एवं प्राजापत्य विवाह प्रचलित है। दैव एवं आर्ष पद्धति एकवार ही लुप्त होगई है क्योंकि वह राम भी नही है और न वह अयोध्या है, यज्ञादिक होते ही नही सुतरां ऋत्विज को कन्या देकर दैव विवाह का अनुष्ठान भी नहीं होता। धर्मार्थ बैल और गऊ के लेने का व्यवहार भी नही है सुतरां गोदान पूर्वक कन्या ग्रहण करके आर्ष विवाह का भी अनुष्ठान नहीं देखा जाता। प्राजापत्य विवाह मे वर पक्ष से कन्या की प्रार्थना करनी होती है। आसुर विवाह मे वर कन्या के पिता या भाई को कन्या के बदले में धन आदि देते है। बङ्गदेश मे वंशज एवं श्रोत्रिय ब्राह्मणों में यह प्रथा प्रचलित है। किन्तु यह प्रथा निन्दित मानी गई एवं इसी कारण हिन्दू समाज से प्रायः उठगई। अब खीष्ट संप्रदाय में जो स्वयं निर्वाचन प्रणाली से विवाह क्रिया सम्पन्न होती है इसी को उस समय में गान्धर्व विवाह कहते थे। यह भी अन्यतम निकृष्ट पद्धति है। यह भी एक समय हिन्दू संप्रदाय मे प्रचलित था किन्तु उस समय के ऋषि उसी समय इस को "मैथुन कामसम्भव," कहकर निन्दा कर गये थे। अपिच यह कालक्रम से समाज का एकान्त

(१) हत्वाछित्वाचभित्वाच क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्। प्रसह्यकन्याहरणं-राक्षसोविधिरुच्यते ॥ (२) सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति। सपापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ मनु ३।३३—३४।

अशुभकारी होउठा इसी से एकबार यह प्रथा इस समाज से उठ-गई। सुतरां यह सब अशुभकारी पद्धतियां किसी सभ्य समाज में कदापि प्रचलित नहीं रह सकीं—हिन्दू समाज ज्वलन्त अक्षरों में इस बात का परिचय दे रहा है। खीष्ट संप्रदाय के बाल्यसुलभ चञ्चलतावश इस समय भी यह नहीं विदित हुआ है किन्तु तत्त्व-दर्शीगण अनुमान करते हैं कि अति शीघ्र ही वह लोग इस वर्त्तमान पद्धति के शुभ व अशुभ परिणाम को जान सकेंगे॥

चतुर्दश—अध्याय।

विवाह में पण लेना।

ब्राह्म विवाह में कन्या को वस्त्र और अलङ्कारादि देने की विधि है—यह देख कर बोध होता है कि हमारे देश वाले वरपक्ष के कर्तागण हजार दो हजार रुपये के वस्त्र आभूषण कन्यापक्ष से लेना चाहते है। इस से कन्या के पिता वा भाई का सर्वस्वान्त और जीवन भर के संचित धन का विनाश होते देखा गया है। इस के सिवाय वह इतना ऋणी हो जाते हैं कि चिरजीवन में भी उस का परिशोध नहीं कर सके। वरपक्ष के अमानुषिक निष्ठुर व्यवहार से कन्या के कर्ता को सपरिवार दुःखसागर में निमग्न होना पडता है। एक २ वरपक्ष का कर्ता कुटुम्बिता और आत्मीयता को विसर्जन करके कन्या के पिता भाई और जाति वालो के प्रति निर्दय कसाई के न्याय व्यवहार करते है। वरपक्ष से पणग्रहण या कन्यापक्ष से पणग्रहण शास्त्र विरुद्ध और नीति विरुद्ध अति निन्दनीय दुष्कार्य्य है—यह मांस के बेचने वाले नीच कसाई का कार्य्य है। स्वार्थ यह ऐसा पदार्थ है कि मनुष्य को अन्धा पशुतुल्य और हृदय शून्य कर देता है। किसी का सर्व नाश करना विवाह का उद्देश्य नहीं होता—विवाह एक सुख की वस्तु है, किन्तु जब विवाह में कन्या के पिता का घर बिक गया और उस की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल गई तबवह

विवाह किस प्रकार सुखदायक होसक्ता है ? पणग्रहणरूप कुरीति के प्रचलन में दरिद्र व्यक्तियों का सर्व्वनाश होता है। यह प्रथा निकाल डालना सकल धार्मिक पुरुषों को उचित है। विवाह के समय सर्वस्व खोकर कन्या को अलंकृत करना शास्त्रविरुद्ध है। सामर्थ्य के अनुसार कन्या को अलङ्कार पहराना ही शास्त्रसम्मत है। याज्ञवल्क्यसंहिता प्र० अ० ५८ श्लोक में हम देख पाते हैं कि—
"ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलंकृता।" वर को बुला कर उसे यथाशक्ति अलंकृत करके कन्या देना ही ब्राह्मविवाह है॥

पञ्चदश—अध्याय।

एक पत्नी व्रत।

एक स्त्री एक पुरुष को और एक पुरुष एक स्त्री को ब्याहै यही ईश्वराभिप्रेत है। दूसरा के विवाह करना या एक से अधिक विवाह करना स्वभाव विरुद्ध है। जिन के विवाह का उद्देश्य केवल शारीरिक सुखसाधन है सो वह उद्देश्य अतिनिन्दनीय और नीच है, वह लोग स्वर्गीय विधि के अनुगत होकर विवाह नहीं करते किन्तु पशुओं की प्रवृत्ति के अधीन होकर करते है। सांसारिक वा शारीरिक सुख के विच्छेद और शरीर नाश के साथ इस विवाह का विच्छेद होता है। यथार्थ विवाह आत्मा आत्मा में होता है, शरीर शरीर में नहीं। एक से अधिक विवाह में मानसिक अशान्ति, शारीरिक दुर्बलता, अल्पायुता, घर में नित्य कलह, दरिद्रता, सन्तान सन्तति की दुर्बलता, परोपकार शून्यता आदि अनेक प्रकार की हानि होती हैं, एक पत्नीव्रत ही समाज या लोक का हितकर है। वेद का अभिमत यही है—"चक्रवाकेवदम्पती।" (अथर्व्वकाण्ड १४, अनुवाक २, वर्ग १३) चक्रवाक एवं चक्रवाकी का जोड़ा जैसे हिलमिल कर रहते हैं वैसा ही स्त्री पुरुष को होना उचित है। रामायण में देखा जाता है कि राम जब अयोध्या त्याग करके वन में गए तब

शूर्पणखा उन का रूप देख कर इतना मोहित होगई कि अन्त में लज्जा के मस्तक में पदाघात करके श्रीरामचन्द्र से स्पष्ट २ विवाह का प्रस्ताव उसने किया। उत्तर में श्रीरामचन्द्र ने जो कहा वह नीचे लिखा जाता है—

कृतदारोऽस्मि भवति भार्य्येयं दयितामम।
त्वद्विधानान्तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता॥
(वा० रा० ; आ० का० १७ सर्ग)

मैं विवाह करचुका हूं, यह हमारी प्रिया पत्नी हैं; तुमसी रमणी को सौत का होना अत्यन्त क्लेशदायक है॥

महाभारत में भी हम देखते हैं कि जब अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु समर में मारे गये तब उन की माता सुभद्रा ने मन की वेदना से कातर होकर पुत्र को सद्गति मिलने के लिये जो संपूर्ण प्रार्थनायें कीं थीं उन में उन्होंने कहा था कि हे पुत्र! शंसितव्रत मुनिगण ब्रह्मचर्य्य द्वारा एवं पुरुषगण एक पत्नीव्रत द्वारा जिस गति को प्राप्त होते है तुम उसी गति को प्राप्त होओ। अतएव देखा जाता है कि एक पत्नीव्रत ही समाज के लिये कल्याणकारी है॥

षोड़श—अध्याय।

पतिपत्नी वर्जन।

शास्त्र में है कि—"पतिंत्वपतितंभजेत्।" स्त्री अपतित पति को भजे। हिन्दूशास्त्र के अनुसार जिन २ कारणों से पतित भाव होता है स्वामी में वही सकल कारण उपस्थित होने पर वह हतभाग्य पुरुष स्त्री के पक्ष में सर्वथा त्याज्य है। यदि स्वामी उन्मत्त हो, महापातकी एवं नपुंसक हो, कुष्ठ रोगी हो, मदिरा पीता हो, यवन स्त्री गामी हो, म्लेच्छ का अन्न खाता हो, उपदंश आदि भीषण रोगों से आक्रान्त हो, एवं स्त्री को ठौर कुठौर मारता हो और उस के साथ कटुभाषण आदि असत् व्यवहार करता हो तो वह स्त्री अवश्य

ही पति का त्याग करके ब्रह्मचारिणी होकर रहे। इधर यदि स्त्री अयोग्या हो तो पति उस का त्याग करदे. महर्षि याज्ञवल्क्यजी का वचन है—

सुरापीव्याधिताधूर्तावन्ध्यार्थघ्न्यप्रियंवदा।
स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्यापुरुषद्वेषिणी तथा॥ (१ म अ०)

जो मदिरा पीने वाली, असाध्यरोग से पीड़ित, छलछन्द करने वाली धूर्ता, बंध्या, वृथा धन को नष्ट करने वाली, अप्रिय वचन बोलने वाली, कन्याओं को केवल उत्पन्न करनेवाली, एवं स्वामी से शत्रुता रखने वाली स्त्री त्याग करने योग्य है। स्त्री यदि दुरारोग्य रोग में पीड़ित हो और पतिव्रता एवं सुशीला हो तो उस की अनुमति लेकर पति अन्य विवाह करे किन्तु उस का निरादर कदापि न करे (१)। स्त्री बन्ध्या हो तो ८ वर्ष, मृतवत्सा हो तो १० वर्ष, केवल कन्या होती हों तो ११ वर्ष अपेक्षा करके उस का पति अन्य विवाह करे (२)। इन्हीं संपूर्ण शास्त्र वचनों के द्वारा भली भांति प्रतिपन्न होता है कि शास्त्रकारगण केवल भोग के लिये, बिना किसी विशेष कारण के एक से अधिक विवाह करने का उपदेश नहीं देते। सब ओर देख कर उपयुक्त काल की अपेक्षा करके दूसरा विवाह करने की विधि है। किन्तु इस से स्वेच्छाचारी होकर जितनी इच्छा हो उतने विवाह करना कदापि हिन्दू शास्त्र का अनुमोदनीय नहीं है॥

स्त्री—त्याग दो प्रकार का है १ त्याग, २ अधिवेदना। त्याग का अर्थ एकबारगी घर से निकाल देना एवं उस स्त्री के भरण पोषण से संपूर्णरूप परित्राण पाना अर्थात् उस से कुछ सम्बन्ध ही न रखना। पति द्वारा त्याग हिन्दूशास्त्र के अनुसार स्त्रियों के लिये सब से प्रधान दण्ड है। अधिवेदना और त्याग इन दोनों में यही

(१) या रोगिणीस्यात्तुहिता सम्पन्नाचैवशीलतः। सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्याचकर्हिचित्॥ मनु ६।८२। (२) वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमेतु मृतप्रजा। एकादशे स्त्रीजननीसद्यस्त्वप्रियवादिनी॥ मनु ६।८१

भेद है कि त्याग की हुई स्त्री को भरण पोषण का व्यय देना होगा एवं स्त्री का सम्बन्ध पूर्णतया छूटेगा नहीं। ऊपर के लिखे हुए श्लोक के अनुसार कुलक्षण जिस स्त्री में हो उस को महर्षि याज्ञवल्क्य ने अधिवेदना के योग्य कहा है। सुतरां ऐसे स्थान पर स्वामी दूसरी स्त्री से विवाह कर सक्ता है किन्तु उस को त्याग नहीं कर सकेगा; भार्य्या के भरण पोषण का भार यावज्जीवन उस के शिर पर रहेगा। तथापि मनु आज्ञा करते हैं—

स्वच्छन्दगाहि या नारी तस्यास्त्यागोविधीयते।
नचैव स्त्रीवधः कार्य्यो नचैवाङ्गविकर्त्तनम्॥

जो स्त्री स्वेच्छाचारिणी (वेश्या) है उस का त्याग करना ही विधि है क्योंकि स्त्री का वध नहीं किया जाता एवं स्त्री का कोई अङ्ग भी काटना निषिद्ध है। अतएव स्त्री यदि कुलटा हो तो या उस पर पूर्ण सन्देह हो तो उस का त्याग करना ही विधेय है। परन्तु पश्चान्तर में यदि स्वामी—

अनुकूलामवाग्दुष्टां दक्षां साध्वीं प्रजावतीम्।
त्यजन् भार्य्यामवस्थाप्यो राज्ञा दण्डेन भूयसा॥

अनुगता, विनीता, योग्या, साध्वी एवं पुत्रवती स्त्री को यदि पति त्याग करे तो वह राजा द्वारा दण्ड के योग्य है। मनु की यही आज्ञा है। याज्ञवल्क्य के मत में आज्ञावर्तिनी कार्य्यदक्षा, पुत्रवती, एवं मिष्टभाषिणी स्त्री को त्याग करने से राजा इस स्त्री को स्वामी के धन के तृतीयांश दिलावे स्वामी निर्धन हो तो ग्रासाच्छादनमात्र दिलावे (१)। जो हो गुणवती स्त्री के त्याग करने से स्वामी के दण्ड विधान के लिये समाज में यदि कोई दृढ़ बन्धन होता तो अनेक मदिरा पीने वाले, उद्धत, धनियों के लड़के, जो गृहलक्ष्मी का त्याग करके पिशाची दानवी की सेवा में निरत हैं वह लोग समुचित दण्ड पाते। उन उच्छृंखल मार्गावलम्बी लोगों के दुष्ट निन्दित

---

(१) आज्ञासम्पादिनीं दक्षां वीरसूं प्रियवादिनीम्।
त्यजन् दाप्यस्तृतीयांशमद्रव्योभरणं स्त्रियाः॥ या० सं० १।७६।

व्यवहार से सती साध्वियों के नयन जल से दिन २ सुवर्ण प्रसू भारत भूमि विकट मरुभूमि के रूप में परिणत हो रही है।

सप्तदश—अध्याय ।

असवर्णा विवाह ।

शास्त्र में सवर्णा कन्या के विवाह की विधि है, असवर्णा विवाह की कोई आज्ञा नहीं है। तब जो मनु में असवर्णा विवाह की व्यवस्था देख पड़ती है वह केवल काम के उद्देश्य से; वह मनु का स्रोक यह है—

सवर्णाग्नेद्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्म्मणि।

कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः॥ मनु ३।१२

द्विजातिगण अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों को प्रथम विवाह में सवर्णा स्त्री ही प्रशस्त है किन्तु कामवश विवाह में प्रवृत्त होने पर निम्न लिखित स्त्री ही क्रमशः प्रशस्त जानना॥

शूद्रैवभार्य्या शूद्रस्य साच स्वाच विशः स्मृते।

तेच स्वाचैव राज्ञः स्युस्ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥ मनु ३।१३।

शूद्र केवल शूद्राकाही विवाह कर सक्ता है, वैश्य वैश्या और शूद्रा दोनों को व्याह सक्ता है, क्षत्रिय के पक्ष में क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा एवं ब्राह्मण के पक्ष में ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा का विवाह विधेय है॥

जाति भेद के विरुद्धवादी लोग इसी स्रोक के ऊपर निर्भर करके "प्राचीन हिन्दूगण विवाह में जातिभेद नहीं मानते थे, असवर्णा विवाह शास्त्रसम्मत है।" इत्यादि प्रलापोक्ति करते हैं। भगवान् मनु ने असवर्णा विवाह के दोष गुण के सम्बन्ध में जो लिखा है वह नीचे उद्धृत किया जाता है उस से विवेचक व्यक्ति निर्णय करलें कि असवर्णा विवाह का शास्त्र अनुमोदन करता है या नहीं? भगवान् मनु ने पूर्वोक्त स्रोक के बाद ही लिखा है--

इतिहास आदि किसी वृत्तान्त में गृहस्थ ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि के पक्ष में विपत्काल में भी शूद्रा भार्य्या के ग्रहण करने का उपदेश नहीं है। फलत. पूर्वोक्त मत में अनुलोम क्रम से ब्राह्मणादि शूद्रा का विवाह कर सक्ते हैं; इस वचन द्वारा प्रतिलोम क्रम से शूद्रा के विवाह का निषेध करते हैं (१)। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य यह मोहवश यदि हीनजाति की स्त्री से विवाह करें तो उन के उस स्त्री से उत्पन्न पुत्र पौत्रादिकों के साथ अपना २ वंश शूद्रत्व को प्राप्त होता है (२)। अत्रि और गौतम मुनि के मत में शूद्रा स्त्री से विवाह करते ही ब्राह्मणादिक पतित होते हैं। शौनक कहते हैं, शूद्रा से विवाह करके और उस में सन्तान उत्पन्न करने पर पतित होते है। भृगु कहते हैं कि शूद्रा स्त्री के गर्भ से उत्पन्न सन्तान के सन्तान उत्पन्न होने पर वह पतित होते हैं (३)। सवर्णा स्त्री से विवाह न करके शूद्रा के साथ प्रथम विवाह करने से ब्राह्मणादि को नरक होता है एवं उस शूद्रा में सन्तान उत्पन्न करने पर उस को ब्राह्मण्य से हीन होना पड़ता है। अतएव सवर्णा विवाह न करके दैवात् शूद्रा से विवाह करने पर और उस से सन्तान न उत्पन्न करना (४)। जिस ब्राह्मणादि द्विज का शूद्रा स्त्री द्वारा दैव पित्र्य और आतिथ्य कार्य्य विशेषरूप से सम्पन्न होता है उस का वह हव्य—कव्य देवता और पितर नहीं ग्रहण करते एवं वह गृहस्थ ऐसे आतिथ्य के द्वारा स्वर्ग लाभ भी नहीं कर सक्ता (५)। जो व्यक्ति उस शूद्रा के अधर रस का पान, एक शय्या में शयन करके उस का नि श्वास ग्रहण एवं उस में

---

(१) न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपिहि तिष्ठतोः। कस्मिंश्चिदपिवृत्तान्ते शूद्रा-भार्य्यापदिश्यते ॥ (२) हीनजातिस्त्रियंमोहादुद्वहन्तोद्विजातयः। कुलान्येवनयन्त्याशुससन्तानानि शूद्रताम् ॥ (३) शूद्रावेदीपतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्यच। शौनकस्यसुतोत्पत्त्या तदपत्यतयाभृगोः ॥ (४) शूद्रां शयनमारोप्यब्राह्मणोयात्यधोगतिम्। जनयित्वासुतंतस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ (५) दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्यतु। नाश्नन्ति पितृदेवास्तं नच स्वर्गं सगच्छति ॥

सन्तान उत्पन्न करता है उस का प्रायश्चित्त ही नहीं है। इस का तात्पर्य्य यही है कि ऋतुकाल में भी शूद्रागमन न करना (१)। भर्त्ता की देहपरिचर्य्या, भिक्षादान, अतिथि सेवा आदि प्रतिदिन के कर्तव्यकार्य्य अपनी ही जाति की पत्नी को करना उचित है अन्य जाति की स्त्री नहीं कर सक्ती (२)। जो व्यक्ति मोहवश होकर स्वजातीया स्त्री के रहते दूसरी जाति की स्त्री द्वारा यह सब कार्य्य कराता है उस को, जैसे ब्राह्मणी में शूद्र द्वारा उत्पन्न को ब्राह्मण चण्डाल कहते हैं वैसा ही पूर्वकाल के पण्डित कह गये हैं (३)। ब्राह्मण अपनी व्याही हुई शूद्रा से कामवश जो पुत्र उत्पन्न करे वह पुत्र जीवित दशा में उस के श्राद्ध आदि करने के अयोग्य एवं मृत तुल्य है; इसी से पण्डितों ने उस का नाम पारशव रक्खा है (४)। ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिया में उत्पन्न एवं क्षत्रिय से वैश्या में उत्पन्न एवं वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न सन्तान हीन मातृगर्भ से उत्पन्न प्रयुक्त मातृ से उत्कृष्ट जाति होगा। ब्राह्मणादि के समान भाव को न प्राप्त होगा। ब्राह्मण से क्षत्रिया में उत्पन्न सन्तान मूर्द्धावसिक्त जाति होगी, क्षत्रिय से वैश्या में उत्पन्न माहिष्य जाति होगी, वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न करण जाति होगी। मूर्द्धावसिक्त की वृत्ति घोड़ा हाथी और रथ की शिक्षा, अस्त्र धारण है; माहिष्य की वृत्ति नृत्य, गान, गणना, शस्यरक्षा है, पारशव उग्र करण जाति की वृत्ति तीनों वर्णों की सेवा, धन धान्य की अध्यक्षता, राजा की सेवा, दुर्ग और अभ्यन्तर की रक्षा है (५)। व्याही हुई वैश्या से ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न

(१) वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्यच। तस्याञ्चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते॥ मनु ३।१६—१६। (२) भर्तुःशरीरशुश्रूषां धर्म्मकार्य्यञ्चनैत्यिकम्। स्वाचैवकुर्य्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथञ्चन॥ (३) यस्तुतत्कारयेन्मोहात्स्वजात्यास्थितयान्यया। यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्व्वदृष्टस्तथैव सः॥ (४) यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम्। सपारयन्नेवशवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः॥ मनु ९।८६, ८७, १७८। (५) स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान् सुतान्। सदृशानेवतानाहुर्म्मातृदोषविगर्हितान्॥

पुत्र को अम्बष्ट कहते हैं एवं ब्राह्मण से ब्याही शूद्रा में उत्पन्न पुत्र को निषाद कहते हैं जिस का दूसरा नाम पारशव है (१)। ब्राह्मण से क्षत्रिया वैश्या और शूद्रामें उत्पन्न एवं क्षत्रियसे वैश्या और शूद्रा में उत्पन्न और वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न ; यह छः सन्तान सवर्ण पुत्र से अपकृष्ट हैं (२)॥

भगवान् मनु अनुलोम और प्रतिलोमजात जाति की उत्पत्ति और पृथक् २ कर्तव्य कार्य्य और अधिकार के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन कर गये हैं—वह सब यहां उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है। जो वह सब जानना चाहें वह मनुस्मृति को पढ़ें। भगवान् मनु असवर्णा विवाह की व्यवस्था करके यदि सवर्णा स्त्री के न्याय व्यवहार करने की व्यवस्था कर देते एवं उसी असवर्णा विवाह के सन्तानादि यदि सवर्णा स्त्री के गर्भ से उत्पन्न सन्तानादि के न्याय लालन पालन, विषय सम्पत्ति का समभाग में विभाग और श्राद्धादि का समान अधिकार पाते तो हम भी कहने को बाध्य थे कि आर्य्य ऋषिगण जातिभेद नहीं मानते थे ! किन्तु हमलोग स्पष्ट ही देख पाते हैं कि ऋषिगण एकमात्र काम प्रवृत्ति की परितृप्ति के लिये ही असवर्णा विवाह की विधि कर गये है ; धर्म जगत् म उन्नति लाभ करने के पक्ष में असवर्णा विवाह संपूर्णरूप से निषिद्ध है - यह बात शास्त्रादि के देखने से और साधारण युक्ति द्वारा ही सहज में जानी जासकती है॥

ब्राह्मण में सतोगुण की अधिकता और क्षत्रिय में रजोगुण की अधिकता चिर प्रसिद्ध और शास्त्रसिद्ध है। ब्राह्मण का ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तान विशुद्ध सतोगुण विशिष्ट होगा एवं ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिया में उत्पन्न सन्तान रजोगुण मिश्रित सतोगुण युक्त होगा ; इसी कारण सवर्णा विवाह अनुलोम असवर्णा विवाह की अपेक्षा

(१) ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठोनाम जायते। निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते॥ (२) विप्रस्यत्रिषुवर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः। वैश्यस्य-वर्णेचैकस्मिन्षडेतेऽपसदाः स्मृताः॥ मनु १०।८,८,१०।

अधिक प्रशंसनीय और उत्कृष्ट फल का देने वाला है। ब्राह्मण के साथ क्षत्रिय को एकजाति करने से क्षत्रिय प्रकृति की तो फिर उन्नति होहीगी नहीं, किन्तु संग दोष से ब्राह्मण प्रकृति भी नष्ट होजायगी। भलीभांति जोते हुए खेत में घास निकलने पर अन्न फिर नहीं बढता किन्तु सूख जाता है। इस अवसर में इस प्रकार का संशय होना भी कुछ आश्चर्य्य नहीं है कि ब्राह्मण का सत्त्वगुण अधिक परिमाण यदि है तो क्षत्रिया के रजोगुण को अपनी शक्ति से परास्त करके सन्तान को सतोगुण पूर्ण क्यों न कर सकेगा ? इस के उत्तर में ये ही कहाजाता है कि गुण संपूर्ण मनुष्य की प्रकृति में निहित होते है। जितने दिन पर्य्यन्त क्रिया, आचार, व्यवहार, व्रतविशेषादि द्वारा प्रकृति का परिवर्तन नहीं होता उतने दिन सतोगुण, रजोगुण या तमोगुण परस्पर निपट निकट रह कर भी परस्पर को परास्त नहीं कर सके। सुतरां ब्राह्मण के वीर्य्य में स्थित सतोगुण, रजोगुणाक्रान्त क्षत्रिया के रुधिर की प्रकृति के परिवर्तन करने में असमर्थ है। एक ठौर गुण के द्वारा अन्य एक ठौर गुण विनष्ट नही होता, किन्तु एक ठौर गुणजनित क्रिया के आचरण द्वारा अन्य गुण क्षीण और परिवर्तित होजाता है। एक आश्रय पदार्थ यदि दूसरे गुण को आश्रय भूमि के विघातन करने में समर्थ होता तो ब्राह्मण के वीर्य्य से क्षत्रिया के गर्भ में उत्पन्न सन्तान, सवर्णा विवाह से उत्पन्न सन्तान की अपेक्षा निन्दनीय न होता। विलोम असवर्णा विवाह (अर्थात् जिस असवर्णा विवाह में पुरुष निम्न श्रेणी का और स्त्री उच्च श्रेणी की है) शास्त्र में नितान्त निषिद्ध है। शास्त्रकार ऋषिगण कहते हैं कि असवर्णा विवाह से उत्पन्न सन्तान चाण्डाल होता है। यहां पर चाण्डाल शब्द का अर्थ अत्यन्त कुप्रकृति वाला ही जानना। निम्न श्रेणी की प्रबल पुरुष शक्ति उच्च श्रेणी की स्त्री शक्ति से सम्मिलित होकर अति निन्दनीय सन्तान उत्पन्न करती है। जिस कारण से अनुलोम विवाह में सवर्णा विवाह से उत्पन्न सन्तान की अपेक्षा निकृष्ट सन्तान की उत्पत्ति होती है,

विलोम विवाह में भी उसी कारण से अतिनीच प्रकृति चाण्डाल की उत्पत्ति होती है। पुरुषप्रकृति, स्त्रीप्रकृति के ऊपर प्रबल आधिपत्य जमासक्ती है—यह बात स्वत सिद्ध है—अगत्या विलोम विवाह में नीच प्रकृति स्त्री की प्रधानता बढती है एवं इसी कारण से विलोम असवर्णा विवाह से उत्पन्न सन्तान भी नीच प्रकृति का होता है। सिद्धान्त की जगह हम इतना ही कहसक्ते हैं कि सवर्णा विवाह ही धर्म और समाज विषयक उन्नति की मूलभित्ति है। अनुलोम असवर्णा विवाह यथोचित प्रशंसनीय नही है। विलोम असवर्णा विवाह निपट नीच, निन्दित, घृणित, आवर्ज्जनाराशि समाज में लाकर समाज को नितान्त कलुषित कर देता है॥

वर्णसङ्कर सन्तान की प्रकृति नीच होती है—इस का प्रमाण चण्डाल जाति है। यह विलोम विवाह का फल है। ब्राह्मणी के गर्भ मे शूद्र के वीर्य से इस जाति का जन्म है। अनुलोम विवाह का फल उग्र चत्रिय वा आगुरी जाति है। चत्रिय के वीर्य से शूद्रा के गर्भ में जो संपूर्ण सन्तान उत्पन्न हो वही "उग्र" संज्ञक हैं। यह दोनों ही जाति सङ्कर वर्ण हैं एवं इन दोनों ही जाति की प्रकृति प्राचीन आर्य्यगणों की आशानुयायी न होने से इन की जाति का नाम करण, बोध होता है इन की प्रकृति देख कर ही किया गया है। चण्ड और उग्र दोनों ही शब्दों का अर्थ एक है। जो हो संक्षेप बात यह है कि सङ्कर जाति की प्रकृति प्राय नीच ही होती है। सुसभ्य अङ्गरेज लोग भी इस बात को मानते है। जाम्भसी नदी के पास विलायती साहबों के वीर्य्य से एवं उस देश की श्याम शरीरा काफ्री स्त्रियों के गर्भ से जो सकलसन्तान उत्पन्न हुए हैं उन की पैशाचिक प्रकृति देख कर लिविङ्गस्टोन साहब बहुत विस्मयापन्न हुए थे। उसी देश का कोई व्यक्ति उन से यों बोला कि महाशय! श्वेत पुरुष देवतों के बनाये हैं, कृष्णकाय पुरुष भी देवतों के बनाये हैं और यह दोगले लोग पाप पुरुष के उत्पन्न किये हुए हैं

(१)। हर्बर्ट स्पेन्सर कहते हैं कि जो लोग घुड़दौड़ के घोड़ों का व्यवसाय करते हैं वह घोड़े का बच्चा मोल लेते समय इतना विशेष रीति से प्रथम अनुसन्धान कर लेते हैं कि बच्चे के माता और पिता में कौन के बार जय पाचुका है, यदि यह परिचय मनोतीत हुआ तब वह लोग और कुछ संशय नहीं करते; घोड़ा निश्चय ही अच्छा होगा--यह कह कर वह लोग उसी समय बहुत अधिक मूल्य देकर उस बच्चे को मोल लेलेते हैं। किन्तु वह बच्चा जो संकर जाति है ऐसा जान जाते हैं तो उस को वह नहीं लेते (२)। अतएव जाना

---

(1) Many years ago, long before I had thought of the present subject, I was struck with the fact that, in South America, men of complicated descent between Negroes, Indians, and Spaniards, seldom had whatever the cause might be, a good expression Livingstone—and a more unimpeachable authority cannot be quoted—after speaking of a half casteman on the Zambesi, described by the Portuguese as a rare monster of inhumanity, remarks, "It is unaccountable why half castes, such as he, are so much more cruel than the Portuguese, but such is undoubtedly the case" An inhabitant remarked to Livingstone "God made white men, and God made black men, but the Devil made half castes" When the two races, both low in the scale, are crossed the progeny seem to be eminently bad It was the noble hearted Humboldt, who felt no prejudice against the inferior races, speaks in strong terms of the bad and savage disposition of the Zambos, or half-castes between Indians and Negroes, and this conclusion has been arrived at by various observers From these facts we may perhaps infer that the degraded state of so many half-castes is in part due to reversion to primitive and savage condition, induced by the act of crossing, even if mainly due to the unfavorable moral conditions under which they are generally reared *Darwin's variation of animals and plants, vol II, Chapt XIII.*

(2) Excluding those inductions that have been so fully verified as to rank with exact science, there are no inductions so trustworthy as those which have undergone the mercantile test When we have thousands of men whose profit or loss depends on the truth of the inferences they draw from simple and perpetually repeated observations, and when we find that the inferences arrived at, and handed down from generation to generation of those deeply interested observers, has become an unshakable conviction, we may accept it

जाता है कि सभ्य अङ्गरेज़ जाति का भी विश्वास यही है कि सङ्कर वर्ण अति नीच प्रकृति वाला होता है। जब पशुओं के सम्बन्ध में मनुष्य की ऐसी धारणा है तब मनुष्य के सम्बन्ध में जो ऐसी धारणा हो तो उस में आश्चर्य ही क्या है ? जिस से समाज का परम मङ्गल हो, जिस से समाज कुत्सित और कुचरित्र लोकों से परिपूर्ण न हो, इसी लिये ही शास्त्र में सवर्णा विवाह की प्रशंसा और असवर्णा विवाह की परम निन्दा है। जो लोग अविवेकता के दोष से सङ्कर जाति के उत्पन्न होने की आवश्यकता बोध करते हैं, वह नीच प्रकृति का आदर और उच्च प्रकृति का अनादर करके प्रलय में पापभागी होंगे॥

अष्टादश—अध्याय।

स्त्री रजोत्पत्ति और रमणी का उस समय का कृत्य अकृत्य।

स्त्री लोगों की प्रधान दो नाड़ी अदृश्या रक्त शुक्ररूपा पूर्णा रहती हैं, उन में एक का नाम कुहू दूसरी का नाम सिनीवाली है। इन के सिवाय ३० नाड़ियों का नाम डामरतन्त्र में उक्त है; यथा—१ शीतला, २ नलिनी, ३ नालिनी, ४ विषनालिनी, ५ मदन्ती, ६ रन्ति देवी, ७ विशोका, ८ शोकदायिनी, ९ कान्तारा, १० कामिनी, ११ कुञ्जा, १२ कल्लोला, १३ मदना, १४ सती, १५ पूर्णा, १६ रुद्रा, १७ विरुद्रा, १८ संरोधा, १९ क्षोभणा, २० सुरसुन्दरी, २१ ललना, २२

---

without hesitation In breeders of animals we have such a class, led by such experiences, and entertaining such a conviction, the conviction that minor peculiarities of organization are inherited as well as major peculiarities Hence the immense prices given for successful racers, bulls of superior forms, and sheep that have certain desired peculiarities. Hence the careful record of pedigrees of high-bred horses and sporting dogs Hence the care taken to avoid intermixture with inferior stocks *Herbert Spencer.*

विमला, २३ श्यामा, २४ भाविनी, २५ भावसुन्दरी, २६ कुलहा, २७ कुलकर्त्री, २८ कुलीना, २९ कुलवर्द्धिनी, ३० कल्याणी। यही ३२ नाड़ी भ्रूमध्यस्थित नाद और विन्दु दोनों स्थानों के सम्मुख और पश्चात् से निर्गत होकर जरायु में आकर मिल गई हैं। शीतला आदि तीस नाड़ियों के द्वारा शुक्रमिश्रित शोणित जरायु में आकर स्थित होता है, क्रमश पूर्णा के बाद रुद्रादि नाड़ियों द्वारा क्षीण होने लगता है। स्वाभाविक स्त्री लोगों का ऋतु ४—अञ्जलि अर्थात् ६४ तोला प्रमाण प्राय: १ सेर होता है, इस के सिवाय न्यूनता या अधिकता को बाधक पीड़ा कहते हैं। बाधक शब्द से सन्तानोत्पत्ति का व्याघात करने वाला रोग विशेष जानना। लोक में चौथे ही दिन तक शोणित देख पड़ता है, उस के बाद फिर नहीं किन्तु किसी किसी के बहुत दिन तक रुधिर देख पड़ता है। जिस स्त्री के चौथे दिन के बाद बहुत दिन तक योनि में रक्त रहता है वह प्राय बन्ध्या होती है नहीं तो निन्दितपुत्रवाली होती है। रजोदर्शन होने पर स्त्रीलोगों के लिये कुछ अवश्य प्रतिपालन करने योग्य नियम हैं, हिन्दू समाज आज भी उन को मानता चला आता है। वह यही है—ऋतु के प्रथम तीन दिन रजस्वला स्त्री नेत्रों में अञ्जन या कज्जल न लगावे, तेल लगाना, स्नान, दूसरे स्थान में जाना, दतून एवं ग्रह नक्षत्र दर्शन न करे। मधुपान, मांस भोजन, गन्ध-माल्य धारण, दिन में सोना, पान खाना, मुख शुद्धि करना, गव्य द्रव्य का आहार, वेशभूषा करना, रोना, पीढा या खाट पर चढ़ना एवं अग्नि स्पर्श रजस्वला के लिये निषिद्ध है (१)। एवं उक्त तीन

---

(१) अञ्जनाभ्यञ्जने स्नानं प्रवासं दन्तधावनम्। न कुर्य्यात्सार्तवा नारी ग्रहाणां दर्शनं तथा॥ (मदनपारिजाते दक्षवचनम्)। वर्जयेन्मधुमांसञ्च पाञ्चि-खर्व्वेञ्च भोजनम्। गन्धमाल्यदिवास्वापन्ताम्बूलञ्चास्यशोधनम्॥ दग्धेश-रावे भुञ्जीतपिबेन्नाञ्जलिना पिबेत्। आहारं गोरसानाञ्च पुष्पालङ्कार-धारणम्॥ अञ्जनं रोदनं गन्धपीठशय्यादिरोहणम्। अग्निसंस्पर्शनञ्चैव वर्जयेच्च दिनत्रयम्॥ (क्रियाम्बुधिधृतमन्त्रिवचनम्)।

दिन रमणी पति की सेवा आदि न करे, लज्जित भाव से घर में छिप कर रहे, कोई जिस में देख न पावे, पहरने के लिये केवल एक वस्त्र, मौनावलम्बन करके दीनभाव से नीचा मुख किये बैठी रहे। सायंकाल को एकबार थोड़ासा भोजन मिट्टी या पत्ते के पात्र में करे। हाथ पैर और नेत्र की चञ्चलता त्याग दे। सावधान होकर पृथ्वी में शयन करे। चौथे दिन सूर्य्योदय होने पर स्नान करे (१)॥

ऊनविंश परिच्छेद।

सहवास और उस का समय—निरूपण।

हिन्दू लोग "परस्त्री मातेव" पराई स्त्री को माता के तुल्य जानते हैं और मानते हैं। सुतरां उन के निकट अपनी ब्याही हुई स्त्री के सिवाय अन्य रमणी से अभिगमन भयानक पाप करके गिना जाता है। संसार में जितने प्रकार के विवाद विसंवाद, साघातिक मृत्यु, फ़ौजदारी अदालत में मुकद्दमा प्रभृति अनर्थ देखे जाते है उन में अधिकांश परस्त्रीगमन मूलक होते है। शास्त्र के पढने से हम जानते है कि पहले समय में रावण और कीचक आदि महाबलशाली व्यक्ति भी इसी कारण से सवंश निर्वंश होगये हैं। इसी लिये शास्त्रकारगण कहते हैं कि—

वेणुर्नलःकर्कटका च रम्भा विनाशकालेफलमुद्भवन्ति।
एवं नरा भाग्यविनाशकाले द्यूतञ्चमद्यञ्च परस्त्रियञ्च॥

---

(१) रजोदर्शनतो दोषात्सर्वमेवपरित्यजेत्। सर्वैरलक्षिता शीघ्रं गृहे चालक्षितावसेत्॥ एकाम्बराह्वतादीना स्नानालंकारवर्जिता। मौनिन्यधोमुखीचक्षुः पाणिपद्भिरचञ्चला॥ अश्नीयात्केवलंभक्तं नक्तम्मृण्मयभाजने। स्वपेद्भूमावप्रमत्ता—क्षपेदेवंदिनत्रयम्॥ स्नायीतचत्रिरात्रान्ते सचैलमुदिते रवौ। (व्याससंहिता)।

अर्थात् जैसे बांस, नरकुल, कांकड़ा, सीप, केला का वृक्ष यह विनाश होने के समय फल फलते हैं ऐसे ही मनुष्य अभाग्य के आने पर जुआं, मदिरा और पराई स्त्री का सेवन करते हैं॥

आजकल हिन्दुओं के यहां ब्रह्मचर्य्य का नियम एकबार एक प्रकार लुप्त होजाने से समाज में परस्त्रीगामी आदि असंयमी मनुष्यों की संख्या बढ़ती जाती है। इन्द्रिय लालसा की परितृप्ति के लिये अनेक लोग वेश्या समागम करते हैं। वह लोग भूल कर भी कभी नहीं विचारते कि वेश्या की प्रीति कभी चिरस्थायिनी नहीं होती। बिजली का प्रकाश, पानी की लहर वा पानी में खींची हुई रेखा लोभ से मित्रता और दूसरे से द्रोह करके उपार्जित की हुई सम्पत्ति जैसे क्षणभर ठहरने वाले हैं वैसे ही कुलटा का क्षणभंगुर प्रेम भी प्रयोजन के लिये कुछ काल रहकर लुप्त होजाता है (१) जितने दिन लोग रतिशूर वा धनी रहते है उतने दिन वेश्याएं भी चित्ताकर्षण करने म कुछ भी नहीं उठा रखतीं, उस के बाद जब मनुष्य वृद्ध या धनहीन होजाता है तो उसी क्षण क्षणभर की भी विलम्ब न करके उसे विष तुल्य त्याग देती हैं, आप वेश्या को कितना ही प्रसन्न क्यों न करें वह तुम्हारे प्रति वास्तव में कभी न मोहित होगी। प्रणयोत्पादन, धनदान, स्तुति, सेवा एवं प्राणदान पर्य्यन्त भी करने पर क्षणकाल के लिये भी वेश्या किसी मनुष्य के वश होने वाली नहीं है (२)। उस का मन अन्य पुरुष की ओर जायगा अवश्य जायगा। जैसे संपूर्ण श्रेय के मिलने पर भी मन को सन्तोष नहीं होता, जैसे समस्त समुद्र के जल से भी बाड़वानल की तृप्ति नहीं होती एवं जैसे समग्र धूलिराशि से भी पृथ्वी परितृप्त नहीं होती वैसे ही संसार के पुरुषों से कुलटा की तृप्ति नहीं होती (३)।

---

(१) विद्युद्दीप्तिर्वारिरेखा लोभान्मैत्रीयथाभवेत्। परद्रोहाद्यथासम्पत्कुलटा प्रेमतत्समम्॥ (ब्र० वै० पु० ४।३२।१२)। (२) न प्रीत्या न धनेनैव-नस्तवान्नच सेवया। न प्राणदानतो वेश्या वशीभूताभवेत्क्षणम्॥ (नारद पं० रा० १।१४।६५। (३) न श्रेयसांमनस्तृप्तं वाडवाग्निर्नपाथसाम्। वसुन्धरा न रजसां न पुंसां कुलटातथा॥ (ना० पं० रा० १।१४।१००)।

इस के सिवाय वेश्या सहवास से कितने ही भयानक रोग एक पुरुष से दूसरे पुरुष में संक्रामित होकर देहक्षय, स्वास्थ्यनाश, यहां तक कि जीवनपर्यन्त नष्ट कर देते हैं। वेश्या सहवास से उपदंश, प्रमेह, प्रमेह जनित ज्वर, अनेक प्रकार के शुक्ररोग, शुक्रक्षय, व्रण प्रभृति रोग उत्पन्न होकर मनुष्य को अल्पजीवी एवं चिरकाल के लिये उद्यमहीन कर डालते है—इसी लिये पक्वकेश ऋषिगण समाज के कल्याण के अर्थ एवं परस्त्रीगमनरूप महापाप से लोगों को निवृत्त करने की इच्छा से परस्त्री माता के तुल्य कह गये हैं॥

अपनी व्याही स्त्री से अभिगमन करना ही शास्त्र की आज्ञा है और यह भी केवल पुत्र उत्पन्न करने के लिये। सृष्टि प्रवाह अप्रतिहत रखने के लिये जनन क्रिया आवश्यक है, जो लोग सन्तान उत्पन्न करने में उदासीन हैं वह शास्त्र के अनुसार महापातकी हैं, संसार धर्म के पालन से निवृत्त लोगों का यह लोक और परलोक दोनों नष्ट होते हैं। जो हो इस गुरुतर विषय की आलोचना करते समय हम लोगों के मन में सब से प्रथम यही प्रश्न उठता है कि कितनी अवस्था में पुरुष और स्त्री सहवास के योग्य होते हैं? शास्त्र कहता है कि जितने दिन स्त्री पुरुष समर्थ न हों उतने दिन सहवास अयोग्य है। भली भांति यौवन का सञ्चार बिना हुए वीर्य परिपक्व नहीं होता; एवं ऐसी अवस्था में सन्तान सन्ततिगण क्षीण, कृश, दुर्बल, निर्वीर्य्य एवं अल्पायु होते हैं। यह तो हुई सन्तान आदि की कथा। स्त्री लोकों के पक्ष में भी हम देख पाते है कि अल्पवयस में सहवास करने से उन की पीठ, जंघा एवं योनि दूषित होकर शारीरिक पीड़ा उत्पन्न कर देती है (१)। एवं प्रसव के समय स्त्री लोक बहुत कष्ट भोगती हैं। पुरुष भी अल्पवयस में स्त्री सहवास करने से यक्ष्मा आदि रोगग्रस्त होजाता है। जब अल्पवयस में सहवास करने में इतनी हानि होती है तब सहवास के योग्य अवस्था जानने के लिये

(१) मैथुनादतिबालायाः पृष्ठजंघोरुवङ्क्षणम्।
रुजयन्दूषयेद्योनिं वायुः प्राक्चरणानुसेति॥ चरक चि० अ० ३०।

इस को आप ही कौतूहल होता है। सहवास अवस्था निरूपण के सम्बन्ध में सुश्रुताचार्य का मत यह है—

पञ्चविंशे ततोवर्षे पुमान्नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्य्यौ तौ जानीयात्कुशलोभिषक्॥

पुरुष को २५ वर्ष की अवस्था में एवं स्त्री को १६ वर्ष की अवस्था में दोनों के बल वीर्य्य पूर्ण होजाता है—यह चतुर वैद्य को जानना चाहिये। इस से न्यून अवस्था में सहवास करने से क्या फल मिलता है वह भी सुश्रुताचार्य्य कहते हैं—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यदा धत्तेपुमान्गर्भः कुक्षिस्थः सविपद्यते॥
जातो वा न चिरं जीवेद्वा जीवेद्वादुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

अतिवृद्धायां दीर्घरोगिण्यां अन्येन वा विकारेणोपसृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्वीत। पुरुषस्यैवंविधस्यतएव दोषाः सम्भवन्ति॥

सोलह वर्ष से न्यून अवस्थावाली स्त्री में २५ वर्ष से न्यून अवस्था वाला पुरुष सन्तान उत्पन्न करे तो वह सन्तान गर्भ ही में मर जाय, उत्पन्न होवे भी तो बहुत दिन न जिये, बहुत दिन जिये भी तो क्षीण बल इन्द्रिय वाला होकर। इस लिये अत्यन्त बालिका में गर्भाधान न करना। यदि स्त्री अतिवृद्धा, बहुत दिन की रोगी या और किसी रोग से आक्रान्त हो तो उस में भी गर्भाधान करना विधेय नहीं है। स्त्रियों के लिये जिस २ अवस्था में गर्भाधान निषिद्ध है पुरुषों के लिये भी उस २ अवस्था में गर्भस्थापन करना अयोग्य है॥

वाग्भट्ट का मत यह है—

पूर्णषोडशवर्षास्त्री पूर्णाविंशेनसङ्गता।
शुद्धेगर्भाशयेमार्गे रक्तेशुक्रेऽनिलेहृदि॥
वीर्य्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भोभवति नैव वा॥

गर्भाशय, अपत्यमार्ग, आर्तवरुधिर, शुक्र, वायु एवं हृदय विशुद्ध रहने पर पूर्ण १६ वर्ष की स्त्री, पूर्ण २० वर्ष के पुरुष के साथ सङ्गत

हो, उन से उत्पन्न सन्तान वीर्य्यवान् होगा, किन्तु इस से न्यून अवस्था का सन्तान रोगी अल्पायु एवं अकर्मण्य होगा, कभी गर्भ ही नहीं होता ॥

इस समय देखा जाता है कि स्त्री की अवस्था के सम्बन्ध में सुश्रुत और वाग्भट्ट का मत एक है, यदि मत भेद है तो केवल पुरुष की अवस्था में। सुश्रुत के मत में पुरुष की अवस्था २५ वर्ष एवं वाग्भट्ट के मत में पूर्ण २० वर्ष होना उचित है। यह जो मत भेद देख पड़ता है इस में यथार्थ देखने से कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। वाग्भट्ट के मत में अवस्था के तीन विभाग हैं, जैसे—बाल्य यौवन एवं बुढापा। तिस में सोलह वर्ष तक बाल्यकाल उस के बाद यौवन। सुश्रुत के मत में सोलह वर्ष पर्य्यन्त बाल्यकाल, सोलह वर्ष से बीस वर्ष तक वृद्धि, बीस से तीस तक यौवन, तीस से चालीस तक संपूर्णता एवं चालीस से सत्तर तक थोड़ी हानि। सत्तर के बाद वृद्ध अवस्था। अतएव देखाजाता है कि सुश्रुत के मत मे सोलह वर्ष के बाद दश वर्ष तक जो समय वृद्धि संज्ञा में परिगत है वह वास्तविक विचार करने से यौवन की प्रथम अवस्था का नामान्तरमात्र है सुतरां ऊपर लिखे हुए मतवाद मे अभिन्नता ही वर्तमान है—ऐसा कहना होगा। जो लोग भोग विलास मे लालित पालित है और भोग विलास ही से जिन का शरीर वृद्धि को प्राप्त है उन के पक्ष मे बीस वर्ष की अवस्था में सहवास करना अकल्याणकर नहीं है किन्तु साधारणतः पुरुष की अवस्था पचीस वर्ष और स्त्री की अवस्था सोलह वर्ष की होना उचित है। इस के प्रथम सहवास करना अत्यन्त विधि विरुद्ध एवं अकल्याणकर है। इस समय हम और एक नई आपत्ति में आकर प्राप्त होते हैं। मनु में जब स्त्री ऋतुमती होती है तभी से सहवास करने का आदेश है (१)। पराशर कहते हैं कि जो निकट में रह कर भी ऋतु स्नाता भार्य्या को रतिदान नहीं करता वह

---

(१) ऋतुकालाभिगामीस्यात्स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्ज्जंव्रजेच्चैनांतद्व्रतोरतिकाम्यया॥ मनु।

पतित है इस में सन्देह नहीं (१)। अथ च सुश्रुत २४ अ० शोणितवर्णनीय सूत्र के मत में स्त्री लोगों के बारहवे वर्ष या बारहवें वर्ष के बाद से रजोदर्शन का समय है। द्वादश वर्ष के बाद ही स्त्रियों के ऋतु जन्मता है तब उस समय उस का स्वामी जो उसे रतिदान न करे और सोलह वर्ष तक की प्रतीक्षा करे तो ब्रह्महत्या पाप से वह कैसे बचेगा? इस के उत्तर में यही कहा जासक्ता है कि मनु में जो ऋतुकाल में स्त्रीगमन की आज्ञा है सो वहां ऋतुकाल से प्रशस्त ऋतुकाल का ग्रहण है अर्थात् जिस समय में प्रशस्त गर्भ धारण स्त्री करे। जैसे मेधातिथि का वचन है—"ऋतुर्नाम स्त्रीणां शोणितोपलक्षित-गर्भग्रहणयोग्यकाल विशेष." वही गर्भग्रहण योग्य समय सोलह वर्ष की अवस्था है, इस से मनु के साथ आयुर्वेद के मत में कोई विभेद नहीं है। क्योंकि सोलह वर्ष के नीचे स्त्री लोगों के गर्भ से क्षीण व दुर्बल सन्तान जन्म लेते हैं वा कभी २ सन्तान उत्पन्न ही नहीं होता। सुतरां सोलह वर्ष के नीचे की अवस्था को प्रशस्त गर्भ ग्रहण योग्य समय नहीं कहा जासक्ता। दूसरी ओर पराशर का मत यह है कि ऋतुस्नाता भार्य्या के निकट रह कर भी जो सम्भोग नहीं करता वह महापातकी है। इस के उत्तर में यही कहा जासक्ता है कि प्रशस्त ऋतुकाल जबतक उपस्थित न हो तब तक स्त्री को पति के यहां न रखने ही से पराशर के मत द्वारा किसी पाप की आशङ्का नहीं है। विवाह के बाद सोलह वर्ष पर्य्यन्त कन्या को माइके में रख कर उस के बाद द्विरागमन करने ही से सब झंझट मिट जायगा। उत्तर पश्चिम प्रदेश में यह नियम विशेषरूप से देख पड़ता है। यह नियम बहुत ही सुन्दर है॥

---

(१) ऋतुस्नातान्तु यो भार्य्यां सन्निधौ नोपगच्छति।
घोरायां ब्रह्महत्यायां पतति नात्र संशयः॥ पराशर।

विंश—अध्याय ।

सहवास के कुछ नियम ।

प्राचीन आर्यलोगों के मत में गर्भ ही से जीव के संस्कारों का प्रारम्भ है। गर्भाधान आदि दश संस्कार ही जीव के इस लोक और उस लोक के लिये एक श्रेयस्कर है एवं पिता माता और आचार्य्य ही यथार्थ समाज का संस्कार करने वाले हैं। आर्य्यलोग जानते हैं कि जीव की उन्नति के लिये, एक मात्र कल्याण के लिये, गर्भाधान ही प्रथम और प्रधान संस्कार है। गर्भ का संस्कार करो, रेत का संस्कार करो—हृष्ट, पुष्ट, बलिष्ठ और धार्मिक सन्तान उत्पन्न हो, ऐसा होने से सामाजिक उन्नति, जातीय उन्नति, धर्मनीति की उन्नति, सभी उन्नति आप ही आप होंगी। परिपक्व बीज के बोने से सब से तेज एवं सफल वृक्ष उत्पन्न होते हैं—पिता माता के शरीर और मन की सब प्रवृत्तियां सन्तान के शरीर और मन में संक्रामित होती हैं यह तो सभी जानते हैं—आज कल के देह तत्त्व के जानने वाले डाक्टर लोग भी इस बात को सत्य मानते हैं। पहले जीव की उन्नति पीछे बाहरी संस्कार। नहीं तो मनुष्यत्व को विसर्जन करके केवल शुद्ध बाहरी संस्कार करने से कैसे निर्वाह होगा? वीरत्व से वञ्चित होकर केवल तोपलगाने से क्या होसक्ता है? मूढ अवस्था में जीव को जन्म देकर बुद्धिशक्ति के उन्मेष होने के लिये उस को गणित शास्त्र पढाने से क्या फल होगा? जीव में धर्म प्रवृत्ति का बीज बोने की चेष्टा पहले न करके उस के बाद उस जीव को धार्मिक करने की चेष्टा केवल पागलपना है। इसी लिये प्राचीन आर्य समाज में बाहरी संस्कार करने वाले का पद बहुत नीचे है। आर्य्यों के मत में पिता माता और आचार्य ही यथार्थ संस्कार करने वाले हैं। संपूर्ण सन्तान अपने पिता और माता ही से जैसा बल, बुद्धि, धर्म, संस्कार लेकर जन्म ग्रहण करेगा, जीव मे चिरकाल पर्य्यन्त वही संपूर्ण शक्ति

बलवती रहेगी। बाह्य शिक्षा आदि सब उपाय उसी शक्ति की सहायता करेंगे किन्तु उस के विरुद्ध कोई शक्ति का आविर्भाव न कर सकेंगे। आप यदि मनुष्य को यथार्थ सुखी, दीर्घजीवी, बुद्धिमान्, धनवान् और धार्मिक देखना चाहते हैं तो बीज बोने के प्रथम वीर्य को परिपक्व व पुष्ट करो, अच्छा क्षेत्र खोजो एवं ठीक समय पर बीज बोओ। ठीक समय पर उर्वर क्षेत्र में परिपक्व बीज रोपित होने से अच्छे हरे भरे वृक्ष उत्पन्न होते हैं एवं स्वादिष्ठ फल मिलते हैं। यदि पुत्र को पवित्र, उच्च और शोभनतम देखना चाहो तो अपने को पवित्र, उन्नत और शोभन बनाओ पीछे पुत्र की इच्छा करो। स्मरण रक्खो यथेच्छाचारी पिता माता जिस सन्तान को उत्पन्न करते है उस के मानसिक और स्वाभाविक संपूर्ण आकर्षण उचित रीति से नहीं अवस्थित होसक्ते। ऐसे सन्तान पिता माता के प्रति कृतज्ञ होना तो दूर रहा, पिता माता के घोर विद्वेषी हो उठते हैं। केवल पुत्र ही को दोष देने से क्या होगा? पिता माता यदि अपना अपना कर्तव्य जानें तो पुत्र भी अपना कर्तव्य जानसके। ठीक समय पर स्त्रीगमन करने से जो सन्तान उत्पन्न होंगे वह बलिष्ठ, दीर्घजीवी, धार्मिक और पिता माता के भक्त क्यों न होंगे? कामोन्मत्त होकर स्त्रीगमन करने से उस पुत्र में क्यों न काम प्रवृत्ति का अधिक समावेश होगा? इन्द्रिय सुख ही जब पुत्र जन्म का मूल कारण होगा तब आप कैसे पुत्र के निकट भक्ति और कृतज्ञता के पात्र होंगे? मनुष्य में जो कुछ देख पड़ता है वह रेत से। यह रेत ही जीव की प्रथम अधिष्ठान भूमि है। इसी रेत के आश्रय से एक मनुष्य की मानसिक प्रवृत्ति अन्य जीव में संक्रामित होती है--एक जन का रोग दूसरे की देह में प्रवेश करता है। शुक्र ही धर्म है, शुक्र ही बुद्धि है, शुक्र ही ज्ञान है, शुक्र ही शक्ति है। इसी शुक्र की रक्षा के लिये हमारे यहां प्रथमाश्रम (ब्रह्मचर्य) का विधान है। कदाचित् कोई कुप्रवृत्ति इस रेत को स्खलित करे इसीलिये हमारे यहां सदाचार धारण और भक्ष्य अभक्ष्य का विचार है। एवं इस शुक्र के निषेक

समय अर्थात् गर्भाधान समय में भी देशकाल और पात्र की विवेचना है ॥

हमारे यहां के पूज्य महर्षियों के मत में शुक्रस्थापन करने का एक मात्र पात्र अपनी सविधि विवाहिता स्त्री ही है। उसी स्त्री से सहवास करना, यही शास्त्र की आज्ञा है। किन्तु इस सहवास में भी नियम है। मनुष्यमात्र ही को प्राय: सहवास की इच्छा होती है। एकदम सहवास त्याग करने से मेह रोग और मेदा की वृद्धि से शरीर शिथिल होजाता है (१)। इसी लिये देह रक्षा के वास्ते सहवास का होना नितान्त आवश्यक है। नियम के साथ सहवास करने में आयुवृद्धि, होती है शरीर हृष्ट पुष्ट, वर्ण उज्ज्वल एवं बल की वृद्धि होती है और मनुष्य शीघ्र वृद्ध नहीं होता (२)। यही आयुर्वेद का मत है। अपने इन्द्रिय सुख के चाहने वाले कामी पुरुष इन्द्रिय तृप्ति के लिये सहवास की निर्दिष्ट सीमा का उल्लंघन करके स्त्रियों के जीवन को अमङ्गलमय न करदें इसी आशङ्का से आर्य शास्त्र जननाधिकार व्यतीत रमण का अधिकार नहीं देता, यथा—"रमणाधिकृतिर्नास्ति जननाधिकृतिंविना"। महाराज मनु के मत में पुत्र प्रयोजन ही के लिये भार्या का प्रयोजन है। सुतरां उस भार्या का काम के उद्देश्य से व्यवहार न करके जनन कार्य के लिये ही व्यवहार करना सब को समुचित एवं श्रेयस्कर है। बहुत पुत्रों का होना भी आर्य शास्त्र के मत में अच्छा नहीं है—"नबाहुल्यमपत्यानां सृष्टिश्रेयस्करं भवेत्।" अर्थात् बहुत पुत्रों का होना कभी सृष्टि के लिये श्रेयस्कर नहीं है। इस का कारण यह है कि बहुत पुत्र दरिद्र का कारण हैं। दूसरे बहुत पुत्र होने से गर्भ धारण करने वाली स्त्री का शरीर और मन बहुत ही थोड़े समय में निस्तेज एवं शिथिल होजाता है। मालूम होता है यही सब देख सुन कर दीर्घ

(१) शरीरे जायतेनित्यं देहिनांसुरतस्पृहा। अव्ययान्मेदसोवृद्धिर्मेहाच्छिथिलता तनोः॥ (२) आयुष्मन्तो मन्दजरावपुर्वर्णबलान्विताः। स्थिरोपचितमांसाश्च भवन्ति स्त्रीषु संयताः॥

दर्शी ऋषियों ने सहवास सम्बन्ध में आर्य समाज को नियमाधीन कर दिया है। उन की आज्ञा यही है कि ऋतुकाल ही में स्त्रीगमन करना। स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल सोलह दिन रात्रि रहता है। इन्हीं सोलह रातों तक स्त्रियों का रज निकलता रहता है। इन रातों में प्रथम की तीन रात्रि छोड़ कर स्त्रीगमन करना ही शास्त्र की आज्ञा है (१)। एवं अवशिष्ट तेरह रात्रियों में अमावास्या आदि पांच पर्व और अन्य निषिद्ध रात्रि परित्याग करना कर्तव्य है। युग्म रात्रि के स्त्रीगमन में गर्भ की उत्पत्ति यदि हो तो पुत्र एवं अयुग्म रात्रियों म कन्या का जन्म होता है (२)। अब पांच पर्व कौन हैं यह ज्ञात होना आवश्यक है। चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा और रवि संक्रान्ति यही पांच पर्व दिन हैं (३)। स्त्रीसहवास में इन्हीं पर्व दिनों का त्याग करना होता है एवं नक्षत्रों में ज्येष्ठा, श्लेषा, रेवती, कृत्तिका, अश्विनी, मघा, मूल, तीनों उत्तरा, वर्जनीय है (४)। जो हो ऋतुस्नान दिन से सोलह रात तक गर्भ धारण का उपयुक्त समय है (५)। इस समय के बीत जाने पर गर्भाशय का मुख बन्द होजाता है सुतरां गर्भ नहीं रहता। ऐसा मालूम होता है इसी कारण ऋतुकाल में स्त्रीगमन की शास्त्र में आज्ञा है। धर्मवक्ता आपस्तम्ब मुनि के मत में रजस्वला स्त्रियों को चतुर्थ दिन स्नान करना ही प्रशस्त है एवं रजस्राव जब तक निवृत्त न हो तबतक वह सहवास के योग्य नहीं होतीं (६)। इस का कारण यही है कि

---

(१) स्त्रीणामृतुर्भवति षोडशवासराणि। तस्मादृतौ परिहरेच्चनिशाश्चतस्रः॥ (२) युग्मासु रात्रिषु नरा विषमासु नार्य्यः। कुर्यान्निषेकमथ तास्वपि पर्ववर्जम्॥ (ज्योतिषतत्त्वम्)। (३) चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्या च पूर्णिमा। पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसंक्रान्तिरेव च॥ (४) ज्येष्ठामूल-मघाश्लेषारेवतीकृत्तिकाश्विनी। उत्तरात्रितयंत्यक्त्वा पर्ववर्जं व्रजेदृतौ॥ (५) आर्तवस्रावदिवसादृतु षोडशरात्रयः। गर्भग्रहणयोग्यस्तु स एव समयः स्मृतः॥ (६) स्नानं रजस्वलायास्तु चतुर्थेऽहनि शस्यते। गम्यानिवृत्ते रजसि नानिवृत्ते कथञ्चन॥

प्रथम तो जब रमणीगण ऋतुमती रहती हैं तब उन के शरीर में रुधिर प्रबल वेग से बहता रहता है, सुतरां उस समय पति जो स्त्री गमन करे तो पुरुष का शुक्र कभी अन्त: प्रविष्ट नहीं होसक्ता (१)। दूसरे जो स्त्री रजस्वला अवस्था में पतिगमन करती है उस के शरीर का रुधिर दूषित होकर रोग का कारण हो उठता है (२)। एवं तीसरे जो स्त्री इस अवस्था में पतिगमन करती है उसे रक्तगुल्म आदि भीषण पीड़ाओं में पीड़ित होना पड़ता है एवं उस के गर्भ से उत्पन्न सन्तान स्वल्पायु होते हैं (३)। ऋतुस्रावकाल में स्त्रीगमन करने से अथवा अन्य काल में भी अधिक सङ्गम करने से पुरुष के यंत्रणादायक प्रमेह रोग होसक्ता है (४)। चौथे दिन से सोलहवें दिन तक जो स्त्री सेवन का विधान है उस में भी जितना पीछे के दिन में गर्भाधान होगा उतना ही सन्तान दीर्घजीवी, रोग रहित, ऐश्वर्यशाली, सौभाग्यवान् एवं बलवान् होगा (५)। सुश्रुत का यही मत है। रमणीय स्थान में एवं सुमधुर गान सुनते हुए प्रसन्न चित्त से स्त्रीगमन करना ही विधि है। गुरुजन के निकट या लज्जा जनक स्थान में अथवा किसी प्रकार मन को वेदना होने पर सहवास न करना। शुद्ध होकर शृंगार करके बल के बढ़ाने वाले आहार करके

---

(१) शोणितं शरीरे तस्या वेगेन बहते ध्रुवम्। गमने च बीजं पुंसोन चान्त: प्रविशेत् क्वचित्॥ (२) ऋतुकाले च या नारी करोति पतिसङ्गमम्। शोणितं दूषितं तस्या भवेद्दै रोगकारणम्॥ (३) पीड्यते सा महादेवि रक्तगुल्मादिपीड्या। अपत्यमपि स्वल्पायुराप्नोति बहुरोगिणम्॥ (४) ...... It (Gonorrhœa) may arise from Leucorrhœal discharge, the prevalence of the menstrual flow, want of cleanliness in the female ...excessive sexual intercourse. (Page 2, Berjeau's Homœopathic Treatment of Syphilis, Gonorrhœa and Spermatorrhœa re-edited by R S Gutteridge, M. D.) (५) उत्तरोत्तरं विद्यामायुरारोग्यमेवच। प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं बलञ्च दिवसेषुवै॥ (सुश्रुत)।

पुत्र प्राप्ति की इच्छा से सहवास करना (१)। क्योंकि पिता माता जैसे भोजन, आचरण एवं चेष्टा के साथ मैथुन करते हैं पुत्र भी वैसी ही चेष्टाओं से युक्त होकर उत्पन्न होता है (२)। सहवास के सम्बन्ध में वाग्भट्ट कहते हैं—

ग्राम्यधर्मं त्यजेन्नारीमनुत्तानां रजस्वलाम्।
अप्रियामप्रियाचारां दुष्टसङ्कीर्णमेहनाम्॥
अतिस्थूलकृशां सूतां गर्भिणीमन्ययोषिताम्।
वर्णिनीमन्ययोनिञ्च गुरुदेवनृपालयम्॥
चैत्यश्मशानायतनचत्वराम्बुचतुष्पथम्।
पर्वाण्यनङ्गदिवसं शिरोहृदयताडनम्॥
बालोवृद्धोऽन्यवेगार्तस्त्यजेद्रोगी च मैथुनम्।
त्र्यहाद्वसन्तशरदो पक्षाद्वर्षानिदाघयो:॥
भ्रमक्लमोरुदौर्बल्यबलधात्विन्द्रियक्षय।
अकालमरणं च स्यादन्यथा गच्छत स्त्रियम्॥

अर्थात् अनुत्ताना (चितहोकर न सोई हुई), रजस्वला, अप्रिया एवं अप्रिय आचरण करने वाली स्त्री के साथ सङ्गम न करना। जिन स्त्रियों की योनि योनिव्यापी रोगों से दूषित हो अथवा योनि का द्वार अतिशय सूक्ष्म हो उन का भी सङ्ग करना उचित नहीं है। बहुत ही मोटी या दुबली स्त्री भी त्याज्य है। प्रसूता या गर्भिणी वा परकीया स्त्री एवं ब्रह्मचारिणी के साथ सहवास न करना। जलाशय आदि में स्त्री सेवन अनुचित है। गुरु देवता एवं राजा का भवन चैत्यालय, श्मशानभूमि, चत्वर, चौराहा, जलाशय आदि स्थान स्त्री

---

(१) विहारमार्ययामार्कं कुर्याद्दृष्टोऽतिसंहृते। रम्ये शय्याङ्गनागाने सुगन्धे सुख मारुते॥ देष्ये गुरुजनासन्ने विकृतेऽतिच्चपाकरे। भूयमाणस्य चाहितवचने च रमेत न॥ स्नातश्चन्दनलिप्ताङ्ग: सुगन्ध: सुमनोऽन्वित:। भुक्तवृष्य: सुवसन: सुवेश: समलंकृत:॥ ताम्बूलवदन: पत्न्यामनुरक्तोऽधिकस्मर:। पुत्रार्थी पुरुषो नारीमुपेयाच्छयने शुभे॥ (२) आहाराचारचेष्टाभिर्या-दृशीभि: समन्वितौ। स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयो: पुत्रोऽपि तादृश:॥

सम्भोग के लिये वर्जित हैं। संक्रान्ति आदि पर्व और दिन को स्त्री सेवन निषिद्ध है। स्त्री सेवन करते समय मस्तक और हृदय आदि में अभिघात न करना। बहुत भोजन किये हुए, चिन्तित अवस्था में, बाल एवं वृद्ध दशा में और भूखे प्यासे स्त्रीसेवन संपूर्ण रूप से निषिद्ध है। और शरीर का कोई अङ्ग प्रत्यङ्ग असमानभाव से स्थित हो इस कारण व्यथित होने से मल मूत्रादि के वेग में स्त्रीसेवन अयोग्य है। वसन्त और शरद् ऋतु के तीन दिन अन्तर एवं ग्रीष्म और वर्षाकाल के पन्द्रह दिन अन्तर स्त्रीसेवन करना विधि है। ऊपर लिखे हुए नियमों का उल्लंघन करके स्त्रीसेवन करने से भ्रम, क्लान्ति, जंघा का सुन्न पडजाना, बल और धातु का क्षय, इन्द्रियों का बेकाम होना यहां तक कि अकालमृत्यु तक होसक्ती है॥

दो समय मिलते हुए, बहुत सबेरे एवं आधी रात को स्त्रीसेवन करने से वात और पित्त का कोप होता है (१)। मध्याह्न काल में सहवास करने से शुक्र की हानि और वायु का कोप होता है (२)। यह आयुर्वेद का मत है॥

इस समय भी यदि हम दाम्पत्यजीवन के—स्त्रीसहवास को उल्लिखित विशुद्ध नीति के अनुसार चले तो हमारे उद्यम, उत्साह, उत्तेजना, श्रमशीलता, कर्तव्य परायणता, सत्यनिष्ठा, आध्यात्मिक प्रवृत्ति सकल भलीभांति स्फुरित होंगे और हमारे सन्तानगण गति शील जड़भाव में परिणत न होकर निरोगशरीर और आर्य्यजाति के नानागुणगण के अधिकारी होकर समाज का यथार्थ उपकार, उन्नति एवं सुखवर्द्धन कर सकेंगे, तभी हमारे जातीयजीवन का नवीन प्रभात उदित होगा!॥

---

(१) प्रत्यूषे अर्द्धरात्रे च वातपित्ते प्रकुप्यत:॥

(२) मध्याह्ने—स्थितस्य हानिं शुक्रस्य वायो: कोपश्च विन्दति॥

एकविंश—अध्याय।

पत्नी के गर्भ ग्रहणानन्तर पति का कृत्य अकृत्य।

पत्नी के गर्भ ग्रहण के पश्चात् पति को जो नियम पालने की शास्त्र में विधि है वह नियम यही है—

पत्नी का गर्भ जब छः महीने का पूर्ण होजाय तब पति को शिर मुड़ाना, स्त्री से सहवास, तीर्थगमन, श्राद्धान्न भोजन एवं और जो कुछ शास्त्र मे निषिद्ध कह कर स्वीकार किया गया है वह सब परित्याग करना चाहिये। क्षौर कर्म्म, शव के साथ श्मशान जाना, नख कटाना, श्राद्धान्न भोजन, गृहयज्ञ आदि का करना, दूरदेश में जाना, विवाह, समुद्र के जल में जाना नहाना या जहाज वा नाव पर चढ़ना, यही कई एक कार्य्य परित्याग करना पति को उचित है और यदि यह निषिद्ध कर्म्म करे तो आयु क्षीण होती है (१)॥

यही सब नियम बङ्गदेश में पल्लीग्रामस्थ व्यक्तिगण आजतक प्रतिपालन करते हैं—ऐसा देखा जाता है। पूर्वोक्त श्लोक में जो स्त्री संसर्ग के निषेध की कथा है उस का यही तात्पर्य्य है कि पत्नी गर्भवती हो तब उस का स्वामी उस को फिर गर्भवती अवस्था में न ग्रहण करे परन्तु प्रथम छः महीने तक निषिद्ध नहीं है। महर्षि अत्रिने स्पष्ट ही कहा है; यथा—

"पञ्चमासात्कारयेन्मर्त्योगर्भिणींस्त्रियमेवहि।"

मनुष्य छः महीने पर्य्यन्त (कोई के मत में पांचवें महीने की समाप्ति पर्य्यन्त) गर्भिणी रमणी से रति करे उस के बाद नहीं॥

---

(१) वपनं मैथुनं तीर्थं वर्जयेद्गुर्विणीपतिः। श्राद्धञ्च सप्तमान्मासादूर्ध्वं चान्यत्र वेदवित्॥ क्षौरं शवानुगमनं नखकृन्तनञ्च श्राद्धञ्च वास्तुकरणन्त्वतिदूरयानम्। उद्वाहमम्बुधिजलेगमनन्तथैवमायुःक्षयोभवतिगर्भिणिकापतीनाम्॥ (आश्वलायन......)।

द्वाविंश—अध्याय।

गर्भ के सम्बन्ध में दो एक बातें।

शंखनाभि के न्याय आकृति योनिमण्डल की होती है अर्थात् तीन आवर्त होते है, उसी योनि के तृतीय आवर्त में गर्भाशय अर्थात् सन्तान का निवासस्थान है (१)। प्राचीन चिकित्सा शास्त्रकार सुश्रुत जरायु की आकृति के विषय में लिखते है कि रोहितमत्स्य का मुख जैसा देखने में होता है तृतीय आवर्त संस्थित गर्भशय्या भी वैसी ही होती है (२) रोहितमत्स्य जैसे जल में वास करता है वैसे ही गर्भाशय भी पक्काशय एवं पित्ताशय के मध्य में अवस्थित है एवं उस में जो चक्र प्रथम है उस का नाम समीरणा है। इसी समीरणा चक्र में वीर्य्य व रज पड़ने से वह निष्फल होजाता है। दूसरे चक्र का नाम चन्द्रमुखी है, इस में वीर्य व रज पड़ने से कन्या उत्पन्न होती है। तृतीय आवर्त का नाम गौरीमुखी है—इस मे वीर्य्य व रज पड़ने से पुत्र उत्पन्न होता है॥

ऋतुकाल में पन्द्रह दिन पर्य्यन्त गर्भाशय का मुख खुला रहता है एवं उस के बाद बन्द होजाता है। ऋतुकाल में जरायु वात, पित्त और कफ द्वारा आवृत न हो तो जरायु के मुख में जीवसंचारक वीर्य्य उपस्थित होते ही वह फैल जाता है। वही बीज गर्भाशय में प्रवेशपूर्वक आर्तव रुधिर के साथ मिल कर गर्भ सञ्चार करता है। सत्त्व जितना ही बढता जाता है सत्त्वयुक्त जरायु भी उतना ही बढता जाता है एवं दिन २ गर्भ जितना बढता जाता है उस के साथ ही जरायु की शिरामांसपेशी और सब आतें स्थितिस्थापक होउठती हैं। क्रम २ जरायु विस्तार को प्राप्त होकर इतना बृहत् होजाता है

---

(१) शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ताचप्रकीर्तिता। अस्यास्तृतीये चावर्तेगर्भशय्याप्रकीर्तिता॥ (२) यथारोहितमत्स्यस्य मुखंभवतिरूपत:। तत्संस्थानांतद्‌रूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधा:॥ (सुश्रुत)

कि उस में २० बुरुल परिमाण पूर्णावयव शिशु भी अवस्थान कर सक्ता है ॥

गर्भ रहजाने पर स्त्रियों का मासिक धर्म्म बन्द होजाता है। ऋतु बन्द होने पर ही स्त्रियें गर्भवती होजाती है, ऐसा न जानना चाहिये, अनेक समय पीड़ा के कारण ऋतुबन्द होजाता है सुतरां ऋतु का बन्द होना ही गर्भ का मुख्य परिचायक नहीं है। सद्यो-गृहीतगर्भा स्त्री के लक्षण की जगह पर चरक ने कहा है (१)। लालाप्रसेक (मुख से राल टपकना), अङ्गों का भारीपन, अङ्गों का शिथिल रहना, तन्द्रा (निद्रार्त्ता के न्याय चेष्टा), हर्ष हृदय की व्यथा, तृप्ति और योनि का बीज ग्रहण आदि है। सुश्रुत ने सद्योगृहीतगर्भा के यह लक्षण कहे हैं—थकावट मालूम होना, ग्लानि, प्यास, सक्थि की अवसन्नता, शुक्र-शोणित का बन्द होना और योनि का फड़कना, यह सद्योगृहीतगर्भा के लक्षण हैं (२)। एवं दोनों स्तनों के मुख पर श्यामता, रोमराजि का उद्गम, नेत्र की पलकों का सदा बन्द रहना, अकारण उबकाई का बारम्बार आना, उत्तमगन्ध में भी उद्वेग, मुख से राल गिरना एवं अवसन्नता, यही सब गर्भिणी के लक्षण हैं (३)। नवीन गर्भिणी स्त्री इन सब के अनुधावन में कुछ अशक्त होती है;—किन्तु स्तनद्वय का रूपान्तर उन के पक्ष में जानने का एक अति सहज उपाय है (४)। वाग्भट्ट ने अन्य २ लक्षणों के साथ कहा है कि गर्भिणी की खट्टी चीज़ खाने की इच्छा, दोनों स्तन पीन, श्वेतान्त और कृष्णवर्ण चूचुक (स्तन का अग्रभाग) होता

(१) निष्ठीवकार्गौरवमङ्गसादस्तन्द्राप्रहर्षौहृदयव्यथा च। तृप्तिश्चबीजग्रहणञ्च योन्यागर्भस्यसद्योऽनुगतस्यलिङ्गम्॥ (चरक) (२) तत्रसद्योगृहीतगर्भा-यालिंगानि,—श्रमोग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितावबन्ध-स्फुरणञ्चयोनेः। (सु० शा०) (३) स्तनयोः कृष्णमुखतारोमराज्युद्गमस्तथा। अक्षिपक्ष्माणिचाप्यस्याः संमील्यन्तेविशेषतः॥ अकामतश्छर्दयति-गन्धादुद्विजतेशुभात्। प्रसेकोसदनञ्चापिगर्भिण्यालिङ्गमुच्यते॥ (सु० शा०) (४) अश्लेष्टता स्तनौ पीनौ श्वेतान्तौ कृष्णचूचुकौ॥ (वाग्भट्ट)

है। चरक कहते हैं,—(१) आर्तवादर्शनसाम्य, आस्यस्राव, अन्न में अरुचि, उबकाई का वेग, अरुचि, खटाई में बड़ी इच्छा, अनेक रूप के भाव से श्रद्धा और प्रणय, गात्रों की गरुआई, नेत्रों में आलस्य, स्तन में दुग्ध का संचार, ओठ और स्तनमण्डल का अत्यन्त श्यामवर्ण होजाना, पादशोथ, रोमराजि और योनि का सामान्य जालित्व; यही गर्भिणी के लक्षण हैं, किन्तु यह सकल क्रमशः प्रकाश को प्राप्त होते है। सद्योगृहीतगर्भा के पूर्वोल्लिखित लक्षणों में कोई एक लक्षण अवगत होकर बुद्धिमती स्त्रीगणोंने सम्भोग के बाद ही गर्भोत्पत्ति का अनुभव किया है—यह प्राय सुना गया है। और बुद्धिमती होने पर स्त्री यह भी जान सकी है कि गर्भ में क्या सन्तान होगा ?। चरक कहते हैं—(२)। जिस के गर्भ में कन्या होगी उस के वाम अङ्ग की चेष्टा, पुरुष की अभिलाषा, स्त्री विषयक स्वप्न दर्शन, स्त्री नामधेय द्रव्य के पान और भोजन में अभिरुचि और चेष्टा होती है एवं वाम भाग मे गर्भवेशी के न्याय अवर्तुल आकार वृद्धि और वाम स्तन मे दुग्ध होता है—यदि पुत्र होने वाला होता है तो इस के ठीक उलटे लक्षण होते है एवं गर्भ वर्तुल आकार धारण करता है (३)। भाव प्रकाश मे लिखित है (४)। दो महीने

(१) आर्तवादर्शनसाम्यमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषश्छर्दिररोचकोऽम्लकाम्यता च विशेषेण श्रद्धाप्रणयनमुच्चावचेषु भावेषु गुरुगात्रत्वं चक्षुषोर्ग्लानिः स्तनयोः स्तन्यमोष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यमत्यर्थं श्वयथुः पादयोरीषल्लोमराज्युद्गमो योन्याश्च जालत्वमिति गर्भे पर्यागते रूपाणि भवन्ति। (चरक) (२) सव्याङ्गचेष्टापुरुषार्थिनी स्त्री स्त्रीस्वप्नपानाशनशीलचेष्टा। सव्याङ्गगर्भा नच वृत्तगर्भा सव्यप्रदुग्धा स्त्रियमेव सूते ॥ (३) पुत्रस्ततो लिंगविपर्ययेण ॥ (४) पुत्रगर्भवतायास्तु नार्य्यामासि द्वितीयके। गर्भो गर्भाशयेलक्ष्यः पिण्डाकारोऽपरं शृणु ॥ दक्षिणाक्षिमहत्त्वंस्यात् प्राक्क्षीरं दक्षिणेस्तने। दक्षिणोरुः सुपुष्टः स्यात्प्रसन्नमुखवर्णता ॥ पुन्नामधेयद्रव्येषुस्वप्नेष्वपि मनोरथः। आम्रादिफलमाप्नोतिस्वप्नेषु कमलादि च ॥ कन्यागर्भवतीगर्भे पेशीमासि द्वितीयके। पुत्रगर्भस्यलिङ्गानि विपरीतानि चेष्यते ॥ नपुंसको यदागर्भे भवेद्गर्भोऽर्बुदाकृतिः। उन्नतेभवतः पार्श्वे पुरस्तादुदरंमहत् ॥ अर्बुदंवर्तुलं फलार्द्धतुल्यम्। (भावप्रकाशे)

के अनन्तर पुत्र होगा या कन्या सो स्पष्ट जाना जाता है; यदि पुत्र नपुंसक हो तो अन्यान्य सकल लक्षण मिश्रितभाव से प्रकट होते हैं, एवं गर्भ वर्तुल अर्धफल के न्याय बोध होता है। गर्भिणी के यही संपूर्ण लक्षण विशेषरूप से विदित रहने से अनायास ही "क्या सन्तान होगा" सो जाना जासक्ता है॥

जरायु में गर्भ किस प्रकार वास करता है और बढ़ता है सो अतीव चमत्कार है। गर्भ संचार के प्रथम जरायु दीर्घ से दीर्घ २ बुरुल, प्रस्थ से कुछ कम एवं पुरु से कनिष्ठा अंगुली के अधिक नहीं। यह जरायु दो चर्मों से आवृत एवं पेशी, धमनी, स्नायु विशिष्ट है। शरीर तत्त्व के जानने वाले पण्डितोंने परीक्षा करके देखा है कि गर्भसञ्चार के प्रथम जरायु में बिन्दुमात्र कोई वस्तु धरी जासके ऐसा नहीं बोध होता। किन्तु ईश्वर महिमा के गुण से जरायु इस प्रकार रबड़ के न्याय स्थितिस्थापक एवं आश्चर्य कौशल से निर्मित है कि इस में पूर्णावयव एक जीव स्वच्छन्द वास करता है। शुक्र और शोणित गर्भाशय में मिलित होने पर प्रथम दिन बुद्बुदाकार गर्भ की उत्पत्ति होती है एवं पञ्चम दिन पर्य्यन्त उसी अवस्था में स्थित रहकर तदनन्तर अर्बुदाकार (गोल २ आधे फल के तुल्य आकार) धारण करता है (१)। उक्त अर्बुदाकार से सातवें दिन मांसपेशी जन्मता है तदनन्तर दो सप्ताह में मांस और शोणित दृढ होता है अर्थात् फिर तरल अवस्था में नहीं रहता (२)। तदनन्तर पचीस दिन में उसी घनीभूत मांस पिण्ड से बीजांकुरसदृश उड़द प्रमाण शिर, दोनों हाथ, दोनों पैर यह पांच स्थान उत्पन्न होकर बढ़ने लगते हैं (३)। तिस के बाद दो महीने में क्रमशः ग्रीवा, शिर, स्कन्ध, पृष्ठ, वक्ष, उदर, हस्त, पद और स्त्रीपुरुष चिह्नित अङ्ग विशेष, कटिदेश और

---

(१) ततः शुक्राच्छोणितस्यैकाहात्कललंभवेत्। पञ्चरात्रेणकललमर्बुदाकारतां व्रजेत्॥ (२) अर्बुदंसप्तरात्रेणमांसपेशीभवेत्ततः। दिसप्ताहेततःपेशी रक्तमांसदृढाभवेत्॥ (३) बीजस्येवांकुराः पेश्याः पञ्चविंशतिरात्रितः। भवन्तिमाषमात्रेण पञ्चधा जायते पुनः॥ (चरक संहिता)

दोनों पार्श्व जन्मते हैं। इसी समय दोनों बाहु हृदय के साथ सम्मिलित और दोनों हाथ ऊंचे होते हैं, उरुपेट में मुड़ी रहती हैं और पैर उरु के पीछे मुड़े रहते हैं—देखने में ठीक कूष्माण्ड के न्याय होता है। तीन महीने में संपूर्ण अङ्ग अंकुरित होते है—फिर कोई अङ्ग का अंकुर बाकी नहीं रहता (१) इसी समय में गर्भस्थित शिशु मुद्रित नेत्र मानों ध्यान में मग्न हैं—ऐसा देखा जाता है। चतुर्थ मास में पञ्चतत्त्व और गुण (सुख दुःख) के साथ सम्बन्ध होता है। पञ्चम मास में हाथ और पैर की अंगुली जन्मती है (२)। छठे महीने मुख, नासिका, कर्ण, चक्षु, चरण, देह का वर्ण, हाथ पैर के नख, दांतों के मसूढे, नाड़ी, जिह्वा एवं कान के छिद्र आदि जन्मते हैं (३)। तीन महीने से छः महीने पर्य्यन्त मनुष्य शिशु देखने में ठीक अन्य जन्तु के शावक के तुल्य होता है। छः महीने के प्रथम मज्जा अर्द्ध जलवत् तरल रहती है और केश नहीं उत्पन्न होते। छः महीने के उपरान्त स्वल्प श्याम वर्ण छोटे २ पतले २ केश जमने लगते हैं। तब भी नेत्र की पलकें मुंदी रहती हैं। सप्तम महीने में गर्भस्थित बालक के मन और चेतना, नाड़ी, स्नायु, शिरा आदि उत्पन्न होते हैं एवं अष्टम मास में उक्त बालक के स्मरण शक्ति उत्पन्न होती है (४)। अष्टम मास संपूर्ण होने पर गर्भस्थ बालक के हस्तपद आदि सकल अङ्ग एवं नखादि प्रत्यङ्ग सब पूर्णता को प्राप्त होकर संपूर्ण अङ्ग स्पष्ट होते हैं एवं मस्तक के केश उत्पन्न होते हैं (५)। अतएव अष्टम

(१) ग्रीवाशिरश्चस्कन्धश्चपृष्ठोवक्षस्थोदरम्। पाणिपादं तथामेढ्रं कटिपार्श्वं तथैवच॥ मासद्वयेन सर्वाणिक्रमशश्चभवन्तिहि। त्रिभिर्म्मासैः प्रजायन्ते सर्व्वाङ्गाङ्कुरसञ्चयः॥ (चरकसंहिता) (२) आत्मभूतगुणस्येति चतुर्थेस्पर्शनंभवेत्। मासैः पञ्चभिरंगुल्यः प्रजायन्ते यथाक्रमम्॥ (३) मुखंनासाचकर्णौच जायन्तेचापिचक्षुषी। षष्ठेचरणवर्णान्तु नखास्थ्नांचापिसम्भवः॥ दन्तश्रेणीस्तथानाभीरसना च प्रवर्तते। कर्णयोश्चभवेच्छिद्रं षण्मासाभ्यन्तरेऽपिच॥ (४) मनसाचेतसायुक्तं नाडीस्नायुशिराततः। सप्तमेचाष्टमेमासि तथास्मृतिमानपि॥ (५) अङ्गप्रत्यङ्गसंपूर्णं शिरः केशसमन्वितम्। विभक्तावयवःस्पष्टः पूर्णमासाष्टमेनतु॥

मास में गर्भ पूर्णावयव युक्त होजाता है; तब गर्भस्थ शिशु माता से एवं प्रसूति गर्भस्थ शिशु से रसवाहिनी धमनी समूह द्वारा परस्पर रस ग्रहण करते हैं। इसी समय में गर्भिणी बारम्बार कष्ट और ग्लानि युक्त होती है (१)। सात महीने ही में बालक के नेत्र प्रस्फुरित होते हैं एवं अष्टम मास में सुश्रुत के मतानुसार बल विधायक ओजनाम धातु विशेष स्थिरता लाभ नहीं करता, सुतरां उस समय जन्म होने से प्राय शिशु जीवित नहीं रहता (२)। आठ महीने में हाथ पैर थोड़ा कूट कर आड़े होजाते हैं एवं नव महीने के ऊपर पैर और नीचे माथा करके शिशु निकलने पर उद्यत होता है। नवम, दशम, एकादश, द्वादश, इन में किसी एक महीने में सन्तान भूमिष्ठ होता है; इस के अन्यथा होने पर विकृत होता है (३)॥

गर्भस्थ शिशु की क्रमोन्नति ऊपर लिखी गई किन्तु किस कारण से वह संघटित होती है सो कहना आवश्यक है। किस प्रकार गर्भस्थ शिशु का जीवनोपाय होता है, गर्भ में बालक रोता है कि नहीं, विष्ठा मूत्र आदि का त्याग करता है कि नहीं, कौन २ वस्तु बालक को पिता माता से प्राप्त होती है-यह जानने के लिये हम लोगों के मन में स्वयं कौतूहल जन्मता है। शास्त्र कहता है कि गर्भ की नाभि नाड़ी रसवाहिनी रसवहन करती है। यह नाड़ी मातृ रस वहा नाड़ी से संलग्न रहती है अतएव उसी के द्वारा गर्भ की वृद्धि नित्य प्रति होती है (४)। इसी प्रकार गर्भस्थ शिशु का जीवनोपाय होता है। गर्भस्थ बालक माता की निश्वास, प्रश्वास, संचालन,

(१) कलेवरस्य पूर्णत्वादष्टमेमासि वै पुनः। रसवाहिधमनीभिः गर्भमात्रोः परस्परम्॥ ओजःसंगृह्यतेशश्वदन्नापिच मुहुर्मुहुः। गर्भिणीहृष्टयुक्तापि ग्लानियुक्ताभवेत्तदा॥ (चरक सं०) (२) अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः तत्र जातश्चेन्नजीवेत निरोजस्त्वात् (३) नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन्जायते। अतोऽन्यथा विकारीभवति॥ (सुश्रुत संहिता) (४) गर्भस्य नाभिनाडीतु नाडी रसवहास्मृता। संलग्नातेन गर्भस्य वृद्धिर्भवतिनित्यशः॥

निद्रा इत्यादि संपूर्ण शारीरिक चेष्टाओं का अनुकरण करता है (१)। गर्भ के नाभिमध्य में तेजस्थान है, उसी स्थान में वायु धमन करता है अर्थात् जैसे लोहार की धौंकनी चलती है वैसे चलता है। देह की उष्मा (गर्मी) द्वारा गर्भ की वृद्धि होती है (२)। उष्मा के साथ वायु इस गर्भ का विस्तार करता है, देह बढ़ती है, ऊपर नीचे तिरछे संपूर्णस्रोत जैसे विस्तार करते हैं वैसे वैसे गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता है (३)। तब दृष्टि एवं रोमकूप आदि की कदापि वृद्धि नहीं होती यह धन्वन्तरि का मत है (४)। पक्वाशय के वायु की अल्पता के कारण एवं अयोग के कारण गर्भस्थ वायु मलमूत्र का त्याग नहीं करता (५)। जरायु द्वारा मुख ढंका रहता है एवं कफ वेष्टित कण्ठ वायु के पथनिरोध के कारण गर्भस्थ बालक रोदन नहीं करता (६)। बालक के केश, श्मश्रु, नख, रोम, दन्त, अस्थि, शिरा, स्नायु धमनी एवं शुक्र यही संपूर्ण अंश पिता से उत्पन्न होते हैं (७)। त्वचा, रक्त, मांस, मेदा, नाभि, हृदय, रोम, यकृत्, प्लीहा, वस्ति, पुरीषाधान, आमाशय, पक्वाशय, पायु, क्षुद्रअन्त्र, स्थूलअन्त्र, वपा (हृदयस्थ मेदा) एवं वपावह यही संपूर्ण अंश माता से उत्पन्न होते हैं। इन्द्रियज्ञान, सुख दुःख, ईश्वरीयज्ञान, आयु यह सब पदार्थ आत्मज हैं एवं बुद्धि विद्या पूर्व जन्म के संस्कार का फल हैं॥

---

(१) निश्वासोच्छ्वास संक्षोभस्वप्नसम्भवान्। मातानिश्वासादि कायाश्चेष्टाः करोति। ता गर्भोऽपि करोतीत्यर्थः॥ (२) गर्भस्य नाभिमध्येतु ज्योतिःस्थानंध्रुवंस्मृतम्। तदाधमतिवातश्चदेहोष्मणा रूवर्धते॥ (३) ऊष्मणा सहितश्चापिदारयत्यस्यमारुतः। ऊर्ध्वं तिर्यगधस्ताच्चस्रोतांसि च यथा तथा॥ (४) दृष्टिश्चरोमकूपाश्च नवर्धन्ते कदाचन। ध्रुवान्येतानिमर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम्॥ (५) वाताल्पत्वादयोगाच्चवायोः पक्वाशयः स च। वातमूत्रपुरीषाणिगर्भस्थोनविमुञ्चति॥ (६) जरायुणा मुखेच्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते। वायोर्मार्गनिरोधाच्चन गर्भस्थः प्ररोदिति॥ (७) केशाःश्मश्रु च लोमानि—नखादन्ता शिरास्तथा। धमन्यःस्नायवः शुक्र-मेतानि पितृजानिहि॥

कोई २ स्त्री शीघ्र और कोई २ स्त्री विलम्ब में गर्भ धारण करती हैं। गर्भ का शुक्र, शोणित, आत्मा, आशय अर्थात् गर्भोत्पत्ति स्थान जरायुक्षेत्र) एवं काल यही समुदाय यदि दोष वर्जित हों और गर्भिणी के आहार विहार विषय में यदि कोई दोष न रहे तो उसी अदुष्ट शुक्र शोणित से उत्पन्न गर्भ संपूर्णभाव से सर्वावयवसम्पन्न होकर यथा समय मे सुख से उत्पन्न होता है। और सप्रजा अर्थात् अवन्ध्या स्त्री भी योनि वा जरायु का दोष, मानसिक विविध अशान्ति वा क्लेश, शुक्र वा शोणित का दूषित होना, आहारविहारादि का अत्याचार, अकाल योग अथवा व्याधि प्रभृति द्वारा शारीरिक दुर्बलता प्रभृति कारण से विलम्ब में गर्भधारण करती है। अनेक समय देखा गया है कि स्त्री का ऋतु बन्द होकर उस का उदर बढ जाता है, देखने से विदित होता है मानों गर्भिणी है। किन्तु कुछ काल बाद अग्नि वा सूर्य्य के ताप से, अधिक श्रम से, कोई शोक क्रोध वा पीड़ा से, अथवा गर्म अन्नपान द्वारा सञ्चित शोणित के बहजाने से उदर की वृद्धि नष्ट होजाती है, तब अनभिज्ञ लोग जानते हैं कि पिशाच आदि के उपद्रव से गर्भ नष्ट होगया। किन्तु वास्तव में उस स्त्री के गर्भ ही नहीं होता। रूखे अन्न के खाने आदि से गर्भाशयस्थ वायु प्रकुपित होकर अनेक समय में स्त्री लोगों के ऋतु शोणित को रोक देता है। इस प्रकार के निरोध द्वारा पेट ऊंचा हो उठता है। बीज (मिले हुए शुक्र और रक्त) से ही सन्तान की उत्पत्ति है। इस बीज में रक्त का अंश अधिक होने से कन्या और शुक्र अधिक होने से पुत्र एवं रक्ताधिक बीज विभक्त होने से यमज (जोड़िया) कन्या एवं शुक्राधिक बीज दो भाग में विभक्त होने से यमज पुत्र जन्मते हैं। इसी प्रकार बीज विभक्त होने से यदि एक भाग में रक्त की अधिकता एवं द्वितीय भाग में शुक्र की अधिकता होती है तो यमज कन्या और पुत्र उत्पन्न होते हैं। जिस समय वायु अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होकर मिलित शुक्र शोणित को अनेक भाग में विभक्त करता है तभी उक्त विभाग के अनुसार भाग्यवश कर्मस्वरूप

अनेक अपत्य जन्म ग्रहण करते हैं। गर्भिणी यदि श्रेष्ठ आहारादि नहीं पाती अथवा यदि गर्भिणी के किसी प्रकार किसी धातु का अधिक स्राव होता है तो गर्भ सूख जाता है उस के बाद गर्भ पुष्ट होने पर सन्तान प्रसव होता है॥

त्रयोविंश—अध्याय।

गर्भिणी का कृत्याकृत्य।

गर्भ संचार होने पर गर्भिणी को कई एक नियम प्रति पालन करना होते हैं, नियम प्रतिपालित करने पर उत्तम सन्तान जन्मता है। भावप्रकाश में कहा है—गर्भिणी स्त्री प्रथम दिन से (चौथे दिन ऋतु स्नान करके पति के समीप जाने के दिन से) प्रसन्न एवं अलङ्कार भूषिता पवित्र एवं श्वेत वस्त्र पहरे रहै अथवा देवता गुरु और ब्राह्मणों के पूजन में निरत रहै। मधुर एवं स्निग्ध हृद्यद्रव और लघु अग्नि के उद्दीपन करने वाले द्रव्य और परिपाककारी द्रव्य गर्भवती स्त्री को खाने के लिये देना चाहिये। व्यायाम, लंघन एवं मैथुन सेवा अतिशय स्निग्धादि सेवा भी गर्भिणी न करे। रात को जागना और शोक और यान आदि का आरोहण तथा रक्त मोक्षण वायु, मूत्र, विष्ठादि का वेग रोकना, कठिनाहार यह सकल गर्भवती स्त्री को त्यागना चाहिये। गर्भिणी के दोषाभिघात से जिस २ भाग में होकर प्रकृष्टरूप पीड़ा हो वही २ भाग गर्भस्थ शिशु का भी पीड़ा होता है। मलिना, विकृताकारा, अङ्गहीना ऐसी स्त्री को छूना न चाहिये, दुर्गन्ध न सूंघे, नयनों को अप्रिय व्यक्ति किंवा वस्तु मात्र का ही दर्शन न करे, कानों से अप्रियवाक्य न सुनै, बासी और सूखा अन्न एवं दुर्गन्धित अन्न न भोजन करै, चिताकर्म और श्मशान एवं वृक्ष; इस प्रकार की भावना न करै, एवं जिस कर्म से अयश हो उसे त्याग करे. बाहर जाना शून्य घर में रहना भी त्याज्य है. ऊंचे स्वर से

बात न करे, जिस से गर्भ विनाश होने का भय हो वह कर्म न करे। अधिकतर तैलाभ्यङ्ग वा तैलमर्दन न करे। अति कोमल एवं एकहरे बिछौने पर न सोवे, बहुत ऊंचे पर भी न सोवे। यही संपूर्ण नियम हर्षजनक साफल्य कर्म गर्भिणी स्त्री यत्न से करे (१)। माता के नास्तिकता (ईश्वर में अविश्वास होने के कारण यथेच्छाचारिता) दोष से गर्भ विकृति को प्राप्त होता है (२)। अतएव गर्भिणी को चित्तविशुद्धि और ईश्वर परायणता के लिये देवता गुरु ब्राह्मण के पूजन की आज्ञा सुश्रुत में देखी गई है। धर्मशास्त्र में भी इसी प्रयोजन से पुंसवन, सीमन्तोन्नयन आदि संस्कार विधिबद्ध हैं। आयुर्वेद के मत में व्यायाम, मैथुन सेवा, रात्रि जागरण, उत्कटुक (उत्खट्टादि) विषम, (ऊंचे नीचे) एवं कठिन आसन पर बैठना वा वायु एवं मलमूत्र के वेग का रोकना, यानादि आरोहण, अभिघात जन्य प्रपीड़न (लगुड़ादि द्वारा प्रहार), अप्रिय शब्द सुनना, एवं भय यही अकाल में गर्भपात होने का कारण है। अत्यन्त तीक्ष्ण और

---

(१) गर्भिणी प्रथमादह्नः प्रहृष्टा भूषिताशुचिः। भवेच्छुक्लाम्बरादेवगुरुविप्राचनेरता॥ भोज्यन्तुमधुरप्रायंस्निग्धंहृद्यं द्रवं लघु। संस्कृतं दीपनी यंतुनित्यमेवोपयोजयेत्॥ गुर्विणी न तु कुर्वीत व्यायाममपतर्पणम्। व्यवायं च न सेवेत न कुर्यादतितर्पणम्॥ रात्रौ जागरणं शोकं यानस्यारोहणं तथा। रक्तमोक्ष वेगरोधं न कुर्यादुत्कटासनम्॥ दोषाभिघातो गर्भिण्या यो योभागः प्रपीड्यते। सभागः शिशोस्तस्य गर्भस्थः सः प्रपीड्यते॥ मलिनां विकृताकारां हीनाङ्गीं नस्पृशेत्स्त्रियम्। नजिघ्रेदपिदुर्गन्धं नपश्येन्नयनाप्रियम्॥ वचांसिनापिशृणुयात्कर्णयोरप्रियाणि च। नान्नं पर्युषितं शुष्कं भुञ्जीत कथितं चयत॥ चैत्यश्मशानवृक्षांश्च भावाश्चाप्य यशस्करान्। बहिर्निष्क्रमणं क्रोधं शून्यागारं च वर्जयेत्॥ नोच्चैर्ब्रूयान्नत त्कुर्य्याद्येन गर्भोविनश्यति। तैलाभ्यङ्गोद्वर्तने च नात्यर्थं कारयेदपि॥ नाम्बदास्तरणं कुर्य्यान्नात्युच्चशयनासनम्। एतांस्तुनियमान हर्षान्यत्नात्कुर्वीत गुर्विणी॥ भाव प्रकाश। (२) मातापित्रोस्तु नास्तिक्यादशुभैश्चपुराकृतैः। वातादीनां च कोपेन गर्भोविकृतिमाप्नुयात्॥ सुश्रुत।

के ऊपर कैसा आधिपत्य करता है। प्रथम स्त्रीगणों के गर्भावस्था में उन के धर्म का उपदेश दिया जाता था और स्त्रीगण वही २ भाव ग्रहण करके जिन सन्तानों को उत्पन्न करती थीं, उन सन्तानों में वही २ भाव आकर वर्तित होते थे एवं सन्तानगण के अपने २ कर्म के अनुष्ठान में उसी २ भाव का सम्यक् स्फुरण होता था। इसी प्रकार के आचार होने पर ब्राह्मणगण एक दिन नीति सम्बन्धी उत्कर्ष में बुद्धिमत्ता में आध्यात्मिक माहात्म्य में जगत् का आदर्श थे। क्षत्रियाएं भी एक दिन वीर पुत्र उत्पन्न करने वाली थीं। क्षत्रियों के वीरत्व से एक दिन जगत स्तम्भित होगया था। महात्मा टाड साहब ने राजपूताने के प्रत्येक स्थान को भारतीय थार्मोपलि एवं प्रत्येक क्षत्रिय को भारत का लियोनिडास कहकर अभिहित करते हैं (१)। एक दिन भारत के वैश्यगणों के वाणिज्यपोत सकल सातों समुद्रों के वक्षस्थल पर चरण धरके सब देशों की सैर करते थे। एक दिन शूद्र भी कृषिकार्य्य की चूड़ान्त उन्नति दिखाने में समर्थ थे। हम अब भी गर्भवती ब्राह्मणियों को आत्मवेत्ता ऋषि महर्षि गणों के उपाख्यान, इतिहास और धर्म विषयक उपदेश सुनाएं। गर्भिणी क्षत्रिया को वीर रस प्रधान महाभारत आदि की आख्यायिका सुनावें। गर्भिणी वैश्या को वाणिज्यादि का उपदेश दे एवं शूद्राओं को कृषिविज्ञान का सकल विषय अवगत कराएं। सन्तान गण भी जन्म ग्रहण करके अपने २ कर्म मे प्रवृत्त हों तभी उन्नति होगी। इस में क्षति नही वरं लाभ है॥

स्त्री लोगों की गर्भावस्था में मानसिक वृत्ति के प्रभाव से यहां तक कि दूसरे देश के लोगों के न्याय पुत्र होसक्ता है। चरक कहते हैं—"तत्रयाया येषां येषां जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत सासा तेषां तेषां जनपदानामाहारविहारोपचार परिच्छदाननु विधीयस्व इति वाच्यास्यात्"—जो स्त्री जिस देश के लोक के न्याय

(१) There is not a petty state in Rajasthan that has not had its Thermopylæ and scarcely a city that has not produced its Leonidas—Tod's Rajasthan.

पुत्र की इच्छा करे वह (ऋतुस्नान से पञ्चम मास पर्य्यन्त) तदनुरूप देशवासी की आकृति की चिन्ता एवं उन के आचार व्यवहार और आहार के अनुरूप आहार आचार और व्यवहार करे। इस उपाय से पुत्रार्थिनी स्त्रीगणों के मन में वही २ विषय निविष्ट कराकर इच्छा के अनुरूप वर्ण और आकृति विशिष्ट सन्तान उत्पन्न कराया जासक्ता है॥

गर्भिणियों को नियमित परिश्रमकरना आवश्यक है। जो आलस्य में कालयापन करती हैं, प्रसव की समय प्रायः उन को कष्ट प्राप्त होता है। इसी से जिस में कुछ अङ्ग फुर्तीले रहैं ऐसा कार्य्य करना विधेय है। किन्तु सप्तम मास के परे अधिक अङ्गों का हिलाना डुलाना वा गाड़ी या पालकी पर चढ कर कहीं आना जाना निषिद्ध है क्योंकि उस में गर्भपात की सम्भावना है। गर्भिणी स्त्री कभी दिन में न सोवे, इस से परिपाक में विघ्न घटित होता है। और उताने होकर शयन करने में भ्रूणकी नाभिसमाश्रित नाड़ी उस के कण्ठ का वेष्टन करती है—इस कारण से भी सन्तान के अनिष्ट की सम्भावना है (१)। प्रातःकाल जिन का अङ्ग सन २ करता है या उबकाई आती है उन को सोकर उठने के प्रथम कुछ दूध पीना उचित है, आहार के बाद ही परिश्रम न करनाचाहिये। गर्भिणी को जिस में शीत या गर्मी न लगे सोई करना चाहिये। सह्य हो तो नित्य ठण्ढे जल में स्नान करना और कण्ठ मुख एवं छाती भली भांति धोना चाहिये। गीला वा मैला वस्त्र वर्जनीय है। कमर में कस कर वस्त्र पहनना वा कसा हुआ वस्त्र पहरना संपूर्ण निषिद्ध है क्योंकि प्रथम कारण से गर्भपात की आशङ्का एवं दूसरे कारण से अनेक समय स्तनाग्रभाग भीतर प्रविष्ट होने की आशङ्का रहती है। स्तन का अग्रभाग यदि भीतर प्रविष्ट होजाय तो प्रत्यह अंगुलि द्वारा उस को पकड़ कर ऊपर खींचना चाहिये॥

---

(१) उत्तानशायिन्याः पूर्णगर्भस्तनाभ्याश्रयानाडी—कण्ठमनुवेष्टयति। (चरक)

गर्भावस्था में स्त्रियों के प्रस्राव अधिक होता है। प्रस्राव बन्द होने पर शरीर का विष नहीं निकल सक्ता, इस अवस्था में चक्षु किंवा दोनों पैर फूल जाते हैं और मस्तक में पीड़ा उत्पन्न होती है। इस कुयोग में सादा सिद्ध पुनर्नवा खाने को देना योग्य है। अनेक गर्भिणियों के फुटकी २ करके प्रस्राव होने से योनिद्वार चिटक जाता है। गऊ के घृत में नीम के पत्ते भिगो कर (मिलाकर) वही घृत योनिमार्ग में लगाने से उपकार देख पड़ता है। यद्यपि प्रस्राव के गोल माल के कारण दोनों पैरों में शोथ होता है किन्तु ऐसा होने पर दोनों पैर लटकाना नहीं उचित है॥

चतुर्विंश—अध्याय।

गर्भविकृति और उस के निवारण का उपाय।

गर्भावस्था में स्त्रियों को अति सावधान रहना योग्य है। नहीं तो अनेक प्रकार से गर्भ की विकृति होती है। सुश्रुत के मत में सहवास, यानवाहन, पथश्रम, औचट चोट खाना, पतन, पीड़न, धावन, अभिघात, विपरीतभाव से सोना वा बैठना; इन से एवं उपवास से, मलमूत्रादि का वेग रोकने से, रूखा कड़ू तीखा पदार्थ, शाक, अतिशय क्षार द्रव्य खाने से, अतिसार की प्रबलता से, वमन से, विरेचन से, झूलने से, अजीर्ण से वा गर्भपात कराने के किसी कार्य्य करने से डण्ठी से टूटे हुए फल की तरह गर्भ का बन्धन शिथिल होजाता है (१)। भय से भी गर्भपात की सम्भावना होती है (२)। गर्भावस्था में ऋतु देख पड़ने से गर्भस्राव संघटित होता है।

---

(१) ग्राम्यधर्म्मयानवाहनाध्वगमनप्रस्खलनप्रपतनप्रपीडनधावनाभिघात विषमशयनासनोपवासवेगाभिघातातिरूक्षकटुतिक्तभोजनगर्भपातन प्रभृतिभिर्विशेषैर्बन्धनान्मुच्यतेगर्भः फलमिव वृन्तबन्धनादभिघातविशेषैः॥ (सुश्रुत)। (२) भयाभिघाततीक्ष्णोष्णपानाशननिषेवणात्। गर्भःपतति रक्तस्य समूलं दर्शनं भवेत्॥ (रुग्विनिश्चयसंग्रह)

गर्भस्राव होने के प्रथम गर्भाशय, कटिदेश, ऊरुदेश और वस्तिदेश झन झन करता है (सनसनाता है)। यह सब लक्षण प्रकट होने पर यष्टि मधुर क्वाथ एवं घृत अर्ध शीतोष्णजल में समानमात्रा भिगो कर योनिदेश में लगाना चाहिये एवं रोगग्रस्ता गर्भिणी की नाभि के नीचे सौबार धोया या हजारबार धोया घी लेपना चाहिये—यही चरक का मत है। मास संख्या के अनुसार सुश्रुत ने गर्भस्राव प्रति षेधक औषधि की व्यवस्था की है। उन के मत में प्रथममास में यदि गर्भस्राव की संभावना हो तो यष्टिमधु, शाकबीज, पयस्या और देवदारु ; द्वितीयमास में अश्मन्तक, पयस्यालता, उत्पल श्यामलता; चतुर्थ में अनन्तमूल, रासना, श्यामलता, रासना पद्मचारिणी और यष्टिमधु, पञ्चम मास में बृहती कण्टकारि, गाम्भारि, जिस का दुग्ध है उस का खोवा बचा और घृत ; षष्ठ मास मे चाकू ले बेलेड़ा, सहंजन, गोखरू व गुरुच ; और सप्तम मास में गाली फल, मृणाल, द्राक्षा, केसर, यष्टिमधु चीनी ; दुग्ध के साथ यह द्रव्य जिस प्रकार हो सेवन करे। अष्टम मास में बृहती, बिल्व, पटोल, इक्षु और कण्टकारि इन सब की जड़ के साथ औटे हुए दूध का सेवन करें। नवम मास मे सोंठ, और पयस्या देवदारु मिला कर उन के साथ दूध औटाकर पियें एवं दशम मास में भी यही करना श्रेय है (१)। यह सब सहज उपाय ज्ञात रहने से गर्भस्राव का निवारण हो सक्ता है ॥

(१) अतऊर्ध्व मासानुमासिकं वक्ष्याम:—"मधुकंशाकबीजञ्चपयस्यासुरदारुच। अश्मन्तकस्तिला: कृष्णातान्नवल्लीशतावरी। वृक्षादनी पयस्याच लताचोत्पलमारिवा॥ अनन्तामारिवा रास्ना पद्मामधुकमेवच। बृहती काश्मरीचापि क्षीरिशुङ्गास्त्वचाघृतम्॥ पृश्निपर्णीबलाशिग्रुश्वदंष्ट्रा-मधुपर्णिका। शृगारकं विषं द्राक्षाकसेरुमधुकंसिता॥ वत्सैतेसप्त-योगा:स्युरर्धश्लोकसमापना:॥ यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पयोयुता:। कपित्थबृहतीबिल्व पटोलेक्षुनिदिग्धिका। मूलानिक्षीरसिद्धानिपाय-येद्भिषगष्टमे। नवमे मधुकानन्तपयस्या सारिवापिबेत्। क्षीरं शुंठीप-यस्याभ्यां सिद्धं स्याद्दशमेहितम्। सक्षीरा वाहिता शुंठी मधुकं सुर दारु च। एवमाप्यायतेगर्भस्तीव्रारुक् चोपशाम्यति। (सुश्रुत)॥

पञ्चविंश—अध्याय।

गर्भिणी का आहार।

गर्भवती युवतियों के आहार के अविचार से जैसे गर्भ गिरने का खटका है, वैसे ही आहार के दोष से अनेक समय गर्भस्थित बालक का अनिष्ट भी होसक्ता है। इस समय कैसे आहार से कैसा अनिष्ट होने की सम्भावना है वही कहाजाता है। चरक कहते हैं;—मद्य पान से पिपासाशील, अस्थिर; गोधामांस खाने से शर्करा रोगग्रस्त वा अश्मरी (पथरी) रोगग्रस्त; वराहमांस के सेवन से अरुणनयन, घातनशील, अत्यन्त कर्कश रोमयुक्त; अत्यन्त मत्स्यमांस के सेवन से मुद्रित नेत्र वा स्तब्धचक्षु; मधु, गुड़, दूध आदि के अतिसेवन से प्रमेही, मूक, अत्यन्त स्थूल; अधिक खटाई के सेवन से रक्त पित्त वा चर्मरोग अथवा चक्षुरोग पीड़ित, अत्यन्त लवण सेवन से शीघ्र ही वली, पलित वा खालित्य रोगग्रस्त; अत्यन्त कटु (मिर्च, पिपरी आदि) के सेवन से दुर्बल, अल्पवीर्यवाला, पुत्रोत्पादन शक्तिहीन; बहुत तीखी वस्तु के सेवन से शोषी, दुर्बल व अपचयशील; बहुत कषाय के सेवन से धूम्रवर्ण, आनाह रोग (कोष्ठबद्ध) युक्त अथवा उदावर्तरोगपीड़ित—सन्तान होता है (१)। जब गर्भिणी स्त्री के आहार के दोष से सन्तान के इस भांति अनिष्ट की सम्भावना है तब गर्भिणी को कैसा आहार करना योग्य है; सो जानने के लिये आप ही हम को कौतूहल होता है। इस सम्बन्ध में भी आयुर्वेद हम को

---

(१) मद्यनित्यापिपासालुमनवस्थितं वा गोधामांसप्रायाशार्करिणमश्मरिणं शनैर्मेहिनंवा वराहमांसप्रायारक्ताक्षंक्रथनमनतिपरुषरोमाणं वा मत्स्य मांसनित्याच्चिरनिमिषं स्तब्धाक्षंवामधुरनित्या प्रमेहिनं मूकमति स्थूलं वाऽम्लनित्या रक्तपित्तिनं त्वगक्षिरोगिणं वा लवणनित्या शीघ्र वलीपलितं खालित्यरोगिणं वा कटुकनित्या दुर्बलमल्पशुक्रमनपत्यं वा तिक्तनित्या शोषिणमबलमपचितं वा कषायनित्या श्यावमानाहिनमुदावर्तिनंवा इत्यादि॥ (चरक)।

ह्रास नहीं करता। सुश्रुत कहते हैं (१)। गर्भिणी प्रथम, द्वितीय और तृतीयमास में मधुर, शीतल और द्रवबाहुल्य द्रव्य का आहार करे। विशेषतः कोई २ कहते हैं कि तृतीयमास में साठी के चावल, दुग्ध के साथ, चतुर्थमास में दही के साथ, पञ्चममास में दुग्ध के साथ और षष्ठमास में घृत के साथ भोजन करे। चतुर्थमास में दुग्ध और नवनीत संयुक्त आहार करे; जांगलमांस के साथ हृदयप्रिय अन्न भोजन करे (यहां पर हृदयप्रिय कहने का तात्पर्य यह है कि जिन को मांस में श्रद्धा नहीं है उन के लिये मांस (पथ्य) की व्यवस्था संगत नहीं है।) पञ्चममास में दुग्ध और घृतसंसृष्ट आहार, षष्ठमास में गोखरू के साथ सिद्ध घृतयवागू (षट्गुण जल में द्रव्य को सिद्ध करके जो मण्ड प्रस्तुत होता है उस को यवागू कहते हैं, [पञ्चम भागापेक्षयाषड्गुण जलेयवागू सिद्धि ; आयुर्वेद टीकाकार] यवागू षड्गुणेऽम्भसि यव का मण्ड ही व्यवस्था में अनुमोदित है। सप्तम मास में चाकुले प्रभृति के साथ सिद्ध घृत पान करे, इस नियम से गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता है। अष्टममास में खेतबहेरा, गोखरू, चाकुले, शलूफा, मांस, दुग्ध, दही का माठा, तिल का तेल, सेंधा नोन, मैनफल, मधु और घृत कुल के जल के साथ, पुरातन पुरीष

---

(१) विशेषतस्तुगर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुर शीत द्रवप्रायमाहार मुपसेवते। विशेषतस्तु तृतीये षष्टिकौदनं पयसा भोजयेत्—चतुर्थे दध्ना, पञ्चमे पयसा, षष्ठे सर्पिषा चेत्येके। चतुर्थे पयो नवनीतसंसृष्ट माहारयेत्, जाङ्गलमांस सहितं हृद्यमन्नं भोजयेत्। पञ्चमे क्षीरसर्पिः संसृष्टं, षष्ठेश्वदंष्ट्रासिद्धस्य सर्पिषो मात्रां पाययेद्यवागूं वा सप्तमे सर्पिः पृथक्पर्ण्यादिसिद्धमेवमाप्यायतेगर्भः। अष्टमेबदरोदकेन बलातिबला शतपुष्पपललपयोदधिमस्तुतैललवणमदनफलमधुघृतमिश्रेणास्थापयेत् पुराणपुरीषशुद्ध्यर्थमनुलोमनार्थञ्चवायोः। ततः पयोमधुरकषाय सिद्धेन तैलेनानुवासयेदनुलोमेहि वायौ सुखंप्रसूयते निरुपद्रवाच्च भवति। अतऊर्द्ध्वं स्निग्धाभिर्यवागूभिर्जाङ्गलरसैश्चोपक्रमेदाप्रसवकालादेव मुप क्रान्तास्निग्धाबलवती सुखमनुपद्रवा प्रसूयते। नवमेमासि सूतकागार मेनां प्रवेशयेत्॥ (सुश्रुत)

की शुद्धि और वायु के अनुलोम के लिये आस्थापन करावै। तदनन्तर यष्टि मधु सहित सिद्ध दुग्ध में तेल के साथ विरेचन करावै, वायु अनुलोम होने से सुख पूर्वक प्रसव होता है और कोई उपद्रव नहीं होता। अनन्तर स्निग्धयवागू और जांगलमांस की प्रसव समयपर्यन्त व्यवस्था है। इस से गर्भिणी स्निग्धा और बलवती रहती है एवं सुख से बिना किसी उपद्रव के प्रसव करती है। नवममास में सूतिकागार में प्रवेश करने की व्यवस्था है अर्थात् नवममास से ही प्रसव का समय है॥

षड्विंश—अध्याय।

नवममास में गर्भिणी को क्या करना चाहिये?

प्रसव का समय नवम वा दशममास है। आयुर्वेद कहता है कि तदनन्तर भी एकादश, द्वादशमास में प्रसव होने से स्वभाव का विपर्यय होजाता है (१)। नवममास में क्या करने से सुखपूर्वक प्रसव होसक्ता है—इस विषय में आयुर्वेद कहता है कि नवममास में मधुर औषध सिद्ध तैल द्वारा अनुवासन करे। उसी समय में कोष्ठाशय तैलसिक्त होने से, मलपरिष्कार रहने से वायु अनुलोम होता है एवं प्रसव में कोई व्याघात नहीं होता (२)। इंगरेज़ी आयुर्वेद शास्त्र भी इस विषय में एकमत है। गर्भिणी अन्य कोई औषध का सेवन न करके यदि नवममास मे गरम दूध के साथ रेंड़ का तेल पिये—इस से विशेष उपकार होता है। गर्भाशय के वायु में कोई विकार न हो—इस विषय में विशेष सावधान रहना कर्तव्य है। प्रसवकालीन सन्तान का विकृतभाव होकर मूढ़गर्भ रोग जन्मने

---

(१) नवमे दशमे मासिनारीगर्भं प्रसूयते। एकादशे द्वादशे वा ततोऽन्यत्र विकारत:॥ (भाव प्रकाश) (२) नवमेतु खल्वेनां मासे मधुरौषधसिद्धेन तैलेनानुवासयेत् (चरक)। तत: पयोमधुरकषायसिद्धेन तैलेनानुवासये दनुलोमेहि वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति॥ (सुश्रुत)।

का मुख्य कारण वायु विकृति ही है (१)। प्रसूति वायु की विकृति होने से सन्तान भूमिष्ठ होते ही प्रतिबन्धक होता है। रेंड़ का तेल वायु के शान्त करने की असाधारण औषध है। यह औषध जैसे वायु को प्रकृतिस्थ रखती है वैसेही मल को भी सफा करती है। यह सब देख भाल कर; रेंड़ का तेल अवश्य व्यवहार करना उचित है—यह बात सहज में ही जान पड़ती है। सुश्रुताचार्य्य ने रेंड़ी के तेल के गुण वर्णन के स्थान पर कहा है (२)। कि रेंड़ का तेल मधुर, उष्ण, तीक्ष्ण, अग्निकर, कटु और पश्चात् काषाय रस विशिष्ट, सूक्ष्म, स्रोतो विशोधनकारक, त्वक्हितकर, शुक्रवृद्धिकारक, पाक में मधुर है। इस के व्यवहार से शरीर में वली (झुर्री,) पलित (अकाल में बाल श्वेत होना) सहज में नहीं होता। यह योनि और शुक्र का शोधक एवं आरोग्य, मेधा, कान्ति, स्मृति और बल को उत्पन्न करनेवाला व वात श्लेष्मा और शरीर के अधोभाग के दोषों का मिटाने वाला है; यह सब गुण देखने से गर्भिणी के लिये रेंड़ी का तेल पूर्ण हितकारी है यह निस्सन्देह प्रतीत होता है॥

सप्तविंश—अध्याय।

गर्भदोहद वा साध।

गर्भिणी को साध देना, हमारे देश का एक आचार और पद्धति है। धर्मशास्त्र में जैसे इस की विधि देखी जाती है वैसे ही आयुर्वेद भी इस विषय में बारम्बार हम को उपदेश देता दृष्टिगोचर होता है। इस के सिवाय अन्यान्य साहित्यों में भी इस का उल्लेख पाया जाता है, उत्तर रामचरित नाटक में लिखा है कि अष्टावक्र ने ऋष्यशृंग

---

(१) मूढ़: करोति पवन: खलुमूढगर्भम्॥ (निदान)। (२) एरण्डतैलम्मधुर मुष्णं तीक्ष्णं दीपनं कटु कषायानुरसं सूक्ष्मंस्रोतोविशोधनं त्वच्यं वृष्यं मधुरविपाकं वय:स्थापनं योनिशुक्रविशोधनमारोग्यमेधाकान्तिस्मृति बलकरं वातकफहरमधोदोषहरञ्च॥ (सुश्रुत)।

के आश्रम से आकर रामचन्द्र से कहा कि (१)। "भगवती अरुन्धती एवं शान्ता देवी ने यह बारम्बार कहा है कि जानकी को जो कुछ गर्भ दोहद हो वह शीघ्र पूर्ण करना।" रामचन्द्र ने उस के उत्तर में कहा कि (२) "जानकी हम से जो कहैंगी सो हम पूर्ण करेंगे।" अतएव देखा जाता है कि साध देने की प्रथा आधुनिक नहीं है। जो हो साध देने का मर्म क्या है? सो जानना आवश्यक है। हिन्दुओं का विश्वास यही है कि स्त्रीगण दोहद वा साध को पाकर वीर्यवान् व चिरंजीवी सन्तान उत्पन्न करती हैं—इसी लिये स्त्री को उस की अभिलाषा के अनुसार वस्तु देना वा लादेना,—यही साध का उद्देश्य है (३)। दोहद (साध) की अवज्ञा करने से अर्थात् वांछनीय वस्तु के न देने से संकोचितांग, कुणि अर्थात् कोहनी टूटा, षण्ढ अर्थात् नपुंसक, वामन, विकृतनेत्र अथवा नेत्रहीन पुत्र, स्त्री उत्पन्न करती है (४)। सुश्रुत की भाषा में कहने पर हम को कहना होगा कि गर्भिणी इन्द्रिय उपभोगार्थ जो २ चाहै एवं जो सब भोजन करने की इच्छा करै वह वह वांछनीय द्रव्य लाकर वैद्य उस को दे क्योंकि दोहद पूर्ण न होने से गर्भबाधा का भय है और जिस स्त्री की साध पूर्ण होजाती है वह गुणान्वित पुत्र उत्पन्न करती है, अप्राप्त वांछनीय द्रव्य नारी गर्भ के सम्बन्ध में एवं आत्मा में भय उत्पन्न करता है। गर्भिणी के जिस २ इन्द्रिय की अभिलाषा पूर्ण नहीं होती, उसी २ इन्द्रिय में सन्तान के भी पीड़ा जन्मती है (५)।

---

(१) इदम्भगवत्यारुन्धत्यादेव्याशान्तया च भूयोभूयः सन्दिष्टं यः कश्चिद्गर्भदोहदोऽस्याः सोऽचिरात्सम्पादयितव्यः। (२) क्रियते यदि एषा कथयति। (उत्तर रामचरित नाटक)। (३) यतः स्त्री दोहदंप्राप्य वीर्य्यवन्तं चिरायुषम्। पुत्रं प्रसूयते तस्मात्स्यै वाञ्छितमर्पयेत्॥ (सुश्रुत) (४) दौर्हृदावमानयाकुब्जंकुणिंषण्ढंवामनम्। विकृताक्षमनक्षं वा पुत्रं नारी प्रसूयते॥ (५) इन्द्रियार्थांस्तुयान्यान्साभोक्तुमिच्छतिगर्भिणी। गर्भबाधाभयात्तांस्तान् भिषगाहृत्यदापयेत्। साप्राप्तदौर्हृदापुत्रं जनयेत गुणान्वितम्। अलब्धदौर्हृदा गर्भेलभेतात्मनिवा भयम्॥ येषुयेष्विन्द्रियार्थेषु दौर्हृदेवै विमानना। प्रजायेत सुतस्यार्तिस्तस्मिंस्तस्मिंस्तथेन्द्रिये॥

दौहृदविशेष का फलाफल हमारे शास्त्र में लिखित है—यथा—जिस स्त्री को राजा के दर्शन की इच्छा हो वह धनयुक्त महाभाग्यवान् पुत्र उत्पन्न करती है (१)। जिस को पट वस्त्र एवं अलङ्कारादि की इच्छा हो वह अलङ्कारेच्छुक, सुललित सन्तान उत्पन्न करती है (२)। तपस्वियों का आश्रम देखने की इच्छा वाली स्त्री संयतात्मा और धर्मशील सन्तान उत्पन्न करती है एवं देवप्रतिमा दर्शन की इच्छा वाली कुबेर तुल्य पुत्र उत्पन्न करती है (३)। सर्पादि हिंस्रजाति के दर्शन की इच्छा से हिंसाशील एवं महिषमांस भोजन की कामना से रक्तलोचन व लोमयुक्त और शूर पुत्र उत्पन्न होता है (४)। शूकर मांस की इच्छा से शूर पुत्र होता है, मृगमांस की इच्छा से प्रशस्त जंघाविशिष्ट, विक्रान्त अर्थात् विक्रमयुक्त एवं वनचारी पुत्र उत्पन्न होता है (५)। इस के सिवाय अनुक्त पदार्थ जो २ स्त्री खाना पीना या देखना चाहे वैसे ही शरीर, और आचार व शीलवाला पुत्र उत्पन्न होता है (६)। इस समय दौहृद देने का क्या उद्देश्य है सो स्पष्ट रीति से जाना गया किन्तु दौहृद शब्द का अर्थ क्या है? इस का अर्थ दोहृदययुक्ता अर्थात् चौथे महीने में सन्तान के सब अङ्ग व्यक्त होते हैं एवं हृदय का प्रकाश होने से चेतना को प्राप्त होता है। इसी लिये चतुर्थ मास में गर्भ, अनेक वस्तुओं की कामना करता

---

(१) दौहृदविशेषमाह। राजसन्दर्शने यस्या दौहृदं जायते स्त्रियः। अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते॥ (२) दुकूलपट्टकौषेयभूषणादिदौहृदम्। अलंकारैषिणं पुत्रं ललितं सा प्रसूयते॥ (३) आश्रमे संयतात्मानं धर्मशीलं प्रसूयते। देवता प्रतिमायान्तु प्रसूते धनदोपमम्॥ (४) दर्शने व्यालजातीनां हिंसाशीलं प्रसूते। रक्ताक्षं लोमशं शूरं महिषामिष दौहृदात्॥ (५) वराहमांसे स्वप्नालुं शूरं सञ्जनयेत्सुतम्। मृगमांसे तु जंघालं विक्रान्तं वनचारिणम्॥ (६) अतोऽनुक्तेषु या नारी दौहृदं विदधाति हि। शरीराचारशीलैस्तत्समानं जनयिष्यति॥

है, अतएव गर्भिणी को द्विहृदया और उस की साध को दौहृद कहते हैं (१) ॥

अष्टाविंश—अध्याय ।

सूतिकागृह (सौर) व जनयित्री (दाई) का काम ।

हम लोगों के देश में सूतिकागृह अतिजघन्य स्थान पर किया जाता है । प्रकाश के साथ प्रायः सूतिकाभवन का कोई सम्बन्ध नहीं रहता । अनेक जगह गीली जगह पर सूतिकासदन बनाया जाता है—ऐसा देखा गया है । ऐसे घर में सन्तान भूमिष्ठ होते ही अनेक समय रोग प्रपीड़ित होजाता है और यहां तक कि प्राणान्त तक होजाता है । केवल सन्तान ही का अनिष्ट होता है ऐसा नहीं, अनेक समय माता का भी जीवनसंशय देखा गया है । शास्त्र में सूतिकागृह आठ हाथ लम्बा और चार हाथ चौड़ा मनोहर स्थान में होना लिखा है, एवं उस में पूर्व मुख वा उत्तर मुख द्वार करने का आदेश देखा गया है (२) । द्वार सम्बन्ध में सुश्रुताचार्य का मत ही ग्रहण करने योग्य है क्योंकि स्वास्थ्य के सम्बन्ध में आयुर्वेद का मत अन्यान्य शास्त्रों की अपेक्षा माननीय है । पूर्व समय में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सूतिकागृह को यथाक्रम श्वेत, रक्त, पीत और कृष्णवर्ण भूमि के ऊपर निर्मित करते थे । बिल्व, बट, तिन्दुक, भल्लातक ; यही चार प्रकार के काष्ठों का पर्यङ्क सूतिकागृह में यथाक्रम ब्राह्मणादि वर्ण डालते थे एवं उस घर की दिवालें लीपी पोती साफ़

(१) ततस्तुसर्वाण्यङ्गानि चतुर्थेस्युः स्फुटानिहि । हृदयव्यक्ति भाविन व्यक्ते चेतनाऽपिच ॥ तस्माच्चतुर्थेगर्भस्तु नानावस्तूनिवाञ्छति । तत्र द्विहृदया-ख्यातानारी दौहृदिनीमता॥ (सुश्रुत) । (२) अष्टहस्तायतञ्चाष्ट चतुर्हस्तविशालकं । प्राचीद्वारमुदग्द्वारं विदध्यात्सूतिकागृहम् ॥

रहती थीं। सूतिकागृह मङ्गल और रक्षा से पूर्ण रहता था (१)। क्यों उक्तरूप सूतिकागृह की वर्णक्रम से भिन्नता रक्खी जाती थी सो हम कह नहीं सके तब सुश्रुत के उक्त मत से बोध होता है कि पूर्वकाल से ही जातिभेद की प्रथा चली आती है। प्रसव पीड़ा का आरम्भ होते ही गर्भिणी रमणी सूतिकागृह में प्रवेश करती है। बार २ मूत्र और मल आदि की आशङ्का एवं "पानमुचि" टूटने से, प्रसवकाल उपस्थित हुआ है—ऐसा जानना चाहिये। अनन्तर निकटीभूत प्रसवकाल—प्राप्त स्त्री, गात्र में तैल लगा कर गरम जल से स्नान कर गुनगुनी यवागू कण्ठपर्यन्त पान करे (२)। अत पर कोमल तकिये के सहारे कोमल बिछौने पर चौड़े पलङ्ग पर धीरे २ उरु संकुचित करके उत्ताना होकर प्रसव व्यथा युक्ता गर्भिणी शयन करे (३)। इसी समय चार जनयित्री जिन पर कोई प्रकार का सन्देह न हो, प्रसव साधन में निपुणा, एवं हितकारिणी, वृद्धा स्त्री उस स्त्री की सेवा करें वह सब स्त्रियें प्रथम सब नख भली भांति कटवा डालें (४)। वह स्त्रियां सन्तान के मार्ग को चारों ओर से तेल से आर्द्र करके उन्हीं में से एक गर्भिणी से वेग देने के लिये अर्थात् ज़ोर देने के लिये कहे (५)। निर्व्यथा युक्त उस प्रसविनी को प्रवाह करावे (प्रवाह अर्थात् वेग), प्रवाह में यदि व्यथा हो तो प्रथम अल्प २ वेग दिलावे तदनन्तर अधिक (६)। तदनन्तर गर्भ जब योनि के द्वार

(१) ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णाभूमिप्रदेशस्थबिल्वन्यग्रोधतिन्दुकभल्लातक निर्मितंसर्वागारंतन्मयपर्यङ्कमुपलिप्तभित्तिं सुविभक्त परिच्छदं प्राग्द्वारंदक्षिणद्वारंवाष्टहस्तायतञ्चतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामंगल सम्पन्नं विधेयम्॥ (सुश्रुत)। (२) तैलेनाभ्यक्तगात्रां संस्नातामुष्णवारिणा। यवागूंपाययेत् कोष्णां मात्रया घृतसंयुताम्॥ (३) ततोपधानेष्वृदूनि विस्तीर्णे शयनेशनैः। आभुग्नसक्थिस्त्वोत्ताना नारी तिष्टेद्व्यथान्विता॥ (४) चतस्रोऽशंकनीयाश्च साधनेकुशलाहिताः। वृद्धाः परिचरेयुस्तां सम्यक्छिन्ननखाः स्त्रियः॥ (सुश्रुत)। (५) अपत्यमार्गं तैलेन समभ्यज्यसमन्ततः। एकातुतासुसुभगेप्रवाहस्वेतितांवदेत्॥ (६) अव्यथा मा प्रवाहिष्ठाः प्रवाहेथा व्यथायदि। प्रवाहेथाः शनैः पूर्वं प्रगाढञ्चततः परम्॥

पर प्राप्त हो तब बहुत अधिक वेग दिलावे जबतक कि आर्तवरक्त सहित गर्भ पृथ्वी में न गिरे (१)। किन्तु यह विशेष करके जान रक्खे कि अकाल में वेग देने से मूक, बधिर, कुब्ज, एवं श्वासकास व क्षयरोगी और विच्छिन्न शरीर बालक उत्पन्न होता है (२)॥

ऊनविंश—अध्याय।

जातकृत्य।

शिशुभूमिष्ठ होते ही रो उठता है—यही स्वाभाविक नियम है। यदि ऐसा न हो तो जानना कि कोई विपर्यय घटित हुआ। इस भांति बहुत देखा गया है कि शिशु भूमिष्ठ होकर मृतक तुल्य हो गया है, शरीर न हिले न डुले और न रोवे। ऐसी दशा होने पर शिशु को सचेत करने की चेष्टा करे। वह उपाय क्या है सो कहते हैं। शीतल अथवा उष्ण जल शिशु के अङ्ग में एवं नेत्र व मुख में बार २ देवे। उस से भी यदि चैतन्य न हो तो एक खण्ड बरफ़ लेकर शिशु के मल द्वार पर रक्खे उसी ठण्ढक के प्रभाव से बालक रो उठेगा। इस उपाय से भी कुछ फल न हो तो एक खण्ड ज्वलित अंगार शिशु के अंग में किसी स्थान पर छुआदे उस के स्पर्श से बालक रो उठेगा। उस से भी यदि कोई फल न हो तो शिशु को शयन करा कर एक जन क्रमागत उस के दोनों पैर व हाथ पकड़ कर एकबार ऊपर और एकबार नीचे सञ्चालन करे। इस प्रकार करते करते फुस फुस वा श्वास क्रिया निर्वाहक श्वास यंत्र संकुचित और प्रसारित होकर क्रमशः स्वाभाविक श्वास क्रिया का निर्वाह करेगा। यह सब उपाय व्यर्थ हों तो जानना कि बालक जीवित नहीं है। किन्तु चेष्टा हीन व मृत तुल्य बालक भूमिष्ठ होते ही उस को मृतक न जानना

---

(१) ततो गाढतरं गर्भे योनिद्वारमुपागते। अपरामहितोगर्भोयावत् पतति भूतले॥ (२) मूकंवा बधिरं कुब्जं श्वासकासक्षयान्वितम्। सूतेस्त्रस्ततनुं बालमकालेतु प्रवाहणात्॥ (सुश्रुत)।

चाहिये। उपर्युक्त सकल उपायों से विना परीक्षा किये शिशु को मृत विश्वास करना योग्य नहीं है॥

सजीव सन्तान के भूमिष्ठ होते ही जातकर्म नामक संस्कार करे। मनुजी कहते हैं—

प्राङ्नाभिवर्द्धनात्पुंसो जातकर्मविधीयते।
मंत्रवत्प्राशन चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्॥

(मनु २ अ० २९ श्लो०)

बालक उत्पन्न होते ही नाड़ीच्छेदन के प्रथम जातकर्म नामक संस्कार करना विधेय है, तत्काल स्वगृह्योक्त मंत्र से उस शिशु को स्वर्ण, मधु और घृत का भोजन कराना चाहिये। सद्योजात बालक को सुवर्ण मधु और घृत भोजन कराने की विधि प्राय लुप्तसी आज कल होगई है, किन्तु इन सब वस्तुओं के प्रयोग में एक अतीव उत्तम रासायनिक क्रिया सम्पन्न होती है। स्वर्ण गुण वर्णन में आयुर्वेद कहता है—

सुवर्णं शीतलं वृष्यं बल्यं गुरु रसायनम्।
स्वादुतिक्तं च तुवरं पाके च स्वादुपिच्छिलम्॥
पवित्रं बृंहणं नेत्र्यं मेधास्मृतिमतिप्रदम्।
हृद्यमायुष्करं कान्तिवाग्विशुद्धिस्थिरत्वकृत्।
विषद्वयक्षयोन्मादत्रिदोषज्वरशोषजित्॥

सुवर्ण।—शीतवीर्य, शुक्रकारक, बलकारक, गुरु, रसायन, मधुर, तिक्त, कषायरस, मधुरविपाक, पिच्छिल, पवित्र, पुष्टिकारक, चक्षु हितकर, मेधाजनक, स्मरणशक्ति और बुद्धिप्रद, हृदयग्राही, आयुष्कर, कान्तिजनक, वाक्यशुद्धि और स्थिरता सम्पादक एवं स्थावरविष, जंगमविष, क्षय, उन्माद, त्रिदोष, ज्वर व शोषरोग विनाशक है॥

मधु।—बलवीर्यवृद्धिकर, जीवित्वकर, प्रीतिजनक, वातघ्न, कफघ्न, त्रिदोष नाशक इत्यादि। आयुर्वेद कहता है—मधुतुमधुरं कषायानु-

रसं रुच्यं शीतमग्निदीपनं वर्ण्यंबल्यं लघुलेखनं वाजीकरणं संग्राहि चक्षु प्रसादनं त्रिदोषघ्नमित्यादि ॥

घृतंरसायनंस्वादु चाक्षुष्यं वह्निदीपनम् ।
शीतवीर्य्यंविषालक्ष्मीपापपित्तानिलापहम् ॥
अल्पाभिष्यन्दि कान्त्योजस्तेजोलावण्यबुद्धिकृत् ।
स्वरस्मृतिकरंमेध्यमायुष्यं बलकृद्गुरु ॥
उदावर्त्तज्वरोन्मादशूलानाहव्रणान्हरेत् ।
स्निग्धंकफरसंरूक्षंक्षयवीसर्प्परक्तनुत् ॥

घृत।—रसायन, मधुररस, चक्षु के लिये हितकारी, अग्नि दीपक, शीतवीर्य, अल्पअभिष्यन्दि, कान्तिजनक, ओजोधातुवर्द्धक, तेजस्कर, लावण्यवर्द्धक, बुद्धिजनक, स्वरवर्धक, स्मृतिकारक, मेधाजनक, आयुष्कर, बलजनक, गुरु, स्निग्ध, कफकर, रूक्ष, उन्माद, शूल, आनाह, व्रणवीसर्प और रक्तदोष का नाश करनेवाला है ॥

अतएव देखा जाता है कि स्वर्ण, घृत और मधु यह तीनों द्रव्य ही जीवनीशक्ति के पोषक हैं। शिशु के जन्म के अव्यवहित पर काल में ही विकिरण (Radiation) जन्य ताप का ह्रास होता है। पुनः अतिसत्वर उतना ही ताप नवजात शिशु के देह में उत्पन्न करना आवश्यक है। शास्त्रविहित घृत, मधु और स्वर्ण का भोजन कराने से वह ताप सहज में उत्पन्न होसक्ता है। और यह भेषज खाद्य का फल मानवजीवन में सर्वतोमुखी होसक्ता है। ऊपर जिस स्वर्ण की कथा कही गई है वह जलाये हुए स्वर्ण की है नहीं तो कच्चा सुवर्ण खिलाने से विविध रोग उत्पन्न होने की सम्भावना है ॥

सन्तान भूमिष्ठ होकर निश्वास प्रश्वास भलीभांति लेता है तब अन्तत ६।७ मिनट अपेक्षा करके फिर नार काटै। नार काटने के समय तीन अंगुली रख कर एक बन्धन देना होता है, तदनन्तर तीन अंगुल बीच में छोड़ कर और एक बन्धन देना होता है, फिर

दोनों बन्धनों के बीच में तीक्ष्ण छुरी से नार काटडालें। दो बन्धन लगाने का कारण यही है कि यद्यपि जरायु के मध्य में यमज सन्तान हो तो यह बन्धन न देने पर कटी हुई नार के द्वारा पुष्प का समस्त रुधिर बाहर निकल जाने से सन्तान की मृत्यु होने की सम्भावना है। यद्यपि नार काटने के बाद भी रक्त गिरता रहे, बन्द न हो तो बन्धन को थोड़ा और कस देना चाहिये। अनेक मूर्ख दाई बालक की नार छोटी करके काटदेती हैं अतएव सूतिकागृह में ही अकाल में भयानक धनुष्टङ्कार रोग से शिशु का प्राणत्याग होजाता है। समीप ही नार काटने से अनेक समय नाभि के ऊपर घाव होजाता है। यदि नार पक कर घाव होजाय तो कपड़ा जलाकर घाव के ऊपर लगादेना चाहिये। जिस से कभी नार उठ न जाय अर्थात् फूल न जाय, इस विषय में सतर्क रहना चाहिये। इस से रक्त बाहर होने पर बालक को बचाना भार होउठता है। रक्त गिरता हो तो उसे बन्द करने के लिये एक ठौर रेंड़ी का रस लेकर नाभि के ऊपर लगादेना चाहिये अथवा फिटकिरी को बूककरनाभि कुण्ड के ऊपर देकर लत्ता को एक ठौर गद्दी के माफिक करके पेटी बांध देने से रक्त गिरना बन्द होजायगा। ऊपर लिखे हुए उपाय से नार काट कर उस पर एक खण्ड वस्त्र चपा कर शिशु के उदर में बांधदे, ऐसा करने से नाड़ी के किसी प्रकार के अनिष्ट की सम्भावना नहीं है। जितने दिन नार आप ही आप सूख कर गिर न जाय उतने दिन बहुत सावधानी से पेट बांधे। शिशु भूमिष्ठ होने के ५।६ दिन में आप ही नार सूख कर गिरने का समय है। नार सूखने के प्रथम किसी प्रकार का विपर्यय होने से धनुष्टङ्कार रोग होने की सम्भावना है॥

नार कट जाने पर शिशु को स्नान करावे और उस का शरीर साफ़ करदे। बहुत लोग प्रथम शिशु के आहार के लिये व्यस्त होते हैं किन्तु शिशु भूमिष्ठ होने के बाद आहार की अपेक्षा शिशु का मल त्याग अधिक आवश्यक है। शिशु मल त्याग न करे तो उसे

माता का दुग्ध पान करावे। उस समय माता के दुग्ध में मलाई के न्याय जो एक प्रकार का दुग्ध रहता है वही बालकों के रेचक का कार्य करता है। इस माता के दुग्ध में ऐसा ही एक और पदार्थ है जिस के द्वारा शिशुओं के पेट में सञ्चित मल हो तो वह बाहर हो जाता है। यही मल पेट ही में रहजाने से अनेक शिशु मर ही जाते हैं, इस समय गऊ का दूध पिलाने का प्रयोजन नहीं है। सब से बढ़ कर माता ही का दूध उपकारी है। प्रसव के दो तीन दिन बाद यथार्थ दुग्ध का संचार होता है सही, किन्तु तत्काल जो एक प्रकार का जलवत् वा मलाईवत् रेचक पदार्थ स्तन में रहता है वही सद्य.प्रसूत शिशु के लिये उपयोगी है क्योंकि रेचक गुण के रहने के कारण शिशु के उदर में जाकर वह जुलाब का कार्य करता है एवं आहार का आहार और औषध को औषध। अतएव सद्योजात शिशु को गऊ का दूध पिलाना भ्रममात्र है। यदि माता का शरीर नितान्त अस्वस्थ हो वा एकबारगी स्तन सूख जाय तो गऊ का दूध जल मिला कर गुनगुना करके पिलावे। आधा जल और आधा दूध मिला कर बालक को देना योग्य है क्योंकि स्तन का दुग्ध बहुत पतला होता है। गाढा वा जल हीन दूध पिलाने से शिशु के रोग उत्पन्न होसक्ता है। यदि माता के कोई रोग क्षयकास, गण्ड माला इत्यादि रक्तगत हो तो सावधान। बालक को कभी उस माता का दूध न पिलाना, कोई शुद्ध दूधवाली धात्री खोज कर उस का दूध बालक को पिलाना योग्य है। क्योंकि स्तन का दूध ही सब में श्रेष्ठ है। किन्तु जिस का दूध बालक पीता हो उस के स्वास्थ्य के प्रति विशेष दृष्टि रखना कर्तव्य है। किसी प्रकार का कोई रोग जिस धात्री को हो उस का दूध शिशु के पीने योग्य नहीं है। धात्री के भी न मिलने पर गधी का दूध और सब दूधों में श्रेष्ठ है उस के भी न मिलने पर बकरी का दूध एवं उस के भी न मिलने पर गऊ का दूध शिशु के पीने योग्य है। किन्तु शुद्ध वा निर्मल दुग्ध नहीं॥

त्रिंश—अध्याय ।

दुग्ध की उत्पत्ति और दुग्ध के सम्बन्ध में ज्ञातव्य विषय ।

मनुष्यमात्र का विश्वास है कि माता का रुधिर ही दुग्ध के आकार में परिणत होता है। स्वाभाविक स्त्रियों का ४ चतुरञ्जलि शोणित अर्थात् आहार के गुण से (प्राय ~~)१) एकसेर रज: जन्मता है किन्तु चतुर्मास का गर्भ होते ही यह शोणित २ अञ्जलि दुग्ध होता है—यही शास्त्र का मत है (१)। अर्थात् प्रथम बिन्दुपातमात्र से शुक्र के साथ स्त्रियों की शोणित प्रकृति का संयम होजाता है, उस दिन से ही इस रक्त से सन्तान के अङ्ग प्रत्यङ्ग जन्मते है। चतुर्थ मास के पूर्व अवधि में नाभि नाड़ी द्वार होकर शोणित का भाग सन्तान के उदर में प्रविष्ट होता है उसी से बाह्याभ्यन्तर शरीर का गठन होता है, जब बाह्य इन्द्रियों का संयोग होता है अर्थात् नासिका, कर्ण, मुख आदि का छिद्र जन्मता है तब जननी के नाभि देश में मुख देकर अल्प २ इसी मातृ शोणित का पान वह किया करता है, यथा—जनन्यानाभिदेशेतुमुखंदत्त्वापिबत्यसौ । (इति सांख्य)। पञ्चममास में अधिक भाग रज दुग्ध होकर उदह वायु के सहित बाष्प योग से ऊर्ध्व गमन करते हुए स्तनद्वय को आपूरित होता है, क्योंकि प्रजात पुत्र बाहर अन्य वस्तु आहार नहीं करता एवं रजोभाग भी नहीं पान करने पाता, इस कारण बालक के आहार के लिये जगदीश्वर ने शरीर यंत्र में अपने अप्रतिम कौशल द्वारा रज: पाकद्वारा दुग्ध कर दिया, इस का कारण पूर्णतया बुद्धि के अगम्य होने पर भी शास्त्र कहता है (२)। चीरा व चीरावती

---

(१) चत्वारोञ्जलय: स्त्रीणां रजस: प्रकृतिस्तथा । द्वावञ्जली प्रजातायाः स्तन्यस्यापि हि योषित: ॥ (२) नाभिनालेद्दर्ते नाड़ी चीरा चीरवती तथा । आगतौस्तनमूलान्तंस्तन्यमर्ध्वं नयत्यमाविति ॥

नाम नाड़ी स्त्रियों के नाभिनाल में संयुक्त होकर स्तनमूल पर्य्यन्त गई हैं उन्हीं के द्वारा दुग्ध ऊपर को बालक दुग्ध खींचता है। वही दो नाड़ी वारुणी यंत्र के नल के न्याय तन्मूल में जठरानल के निकट गान्धकी (गान्धकीनाम सा नाड़ी जठरानलसन्निधौ। तत्प्रभावान्नाडिकायां स्तन्यं भवति शोणितम्॥) नाम जो नाड़ी अवस्थित है उसी के प्रभाव से स्त्रियों का शोणित, वहां जाते ही दुग्धरूप मे परिणत होजाता है। जो अग्नि के प्रभाव से गान्धकी नाड़ी से बाष्प उत्थित होता है, वही धूम लग कर रक्त श्वेत वर्ण दुग्धाभ होजाता है, एवं बाष्प योग से ऊर्ध्वगामी होकर चीरा व चीरवती नाड़ी द्वारा स्तन मे गमन करता है। लौकिक में भी सुना जाता है कि यंत्र पुष्प यवा और कखीर की रक्तता को गन्धक का धूम हरकर श्वेतवर्ण करदेता है, इसी लिये बोध होता है कि तंत्र में स्त्री रज को "स्वयंभूकुसुम" कहा है। और भी प्रमाण यह है कि स्त्री लोकों के रज प्रकट होने पर उन्हे लोक में पुष्पवती कहते हैं एवं उस के उपलक्ष्य में पुष्पोत्सव करते है सुतरां स्त्री लोक के रज को यंत्र पुष्प कहाजाता है, विशेषत यंत्र पुष्प व्यतीत अन्य रक्तवर्ण को गन्धक का धूम श्वेतवर्ण नहीं करता, इसी कारण रज ही दुग्ध होता है, इस के सिवाय शरीरस्थ अन्य रक्त दुग्ध नहीं होता। जातमात्र बालक के मुख में स्तन देते ही पूर्वाभ्यासवश वह दुग्धपान करने लगता है अर्थात् गर्भ में रहने के समय वह शोणित पान किया करता है (जैसा प्रथम ऊपर कह आये हैं) उसी रस को जान कर वह दुग्ध के पान में आसक्त होता है॥

माता का दुग्ध ही शिशु का एकमात्र आहार रहै। सुतरां जिस में वह दूषित न हो, इस विषय में माता को सदा सर्वदा सावधान रहना चाहिये। जननी के गुरु आहार वा विषमाहार द्वारा अर्थात् बहुत ही अथवा थोड़ा ही हो अकाल में भोजन करने के द्वारा, अथवा वायु, पित्त, कफ प्रकोपकारी द्रव्य के भक्षण द्वारा देह के दोष प्रकोप को प्राप्त होते हैं, उन्हीं से दुष्ट दुग्ध होता है

(१)। उसी दुग्ध के पीने से शिशु के पीड़ा उत्पन्न होती है (२)। किस २ दोष से दुष्ट दुग्ध के पीने से कौन २ प्रकार की पीड़ा जन्मती है, सो हमलोगों के आयुर्वेद शास्त्र में प्रदर्शित हुआ है। वायु द्वारा दूषित दुग्ध के पान करने से शिशु नानाविध वायुरोग से आक्रान्त होता है। उस का लक्षण, यथा—भिन्नस्वर, शुष्कशरीर, विष्ठा मूत्रादि रुकजाना (३)। पित्त दोष से दूषित दुग्ध के पान करने से बालक का शरीर घर्मयुक्त और अतीसार रोग से आक्रान्त होता है और चक्षु, जिह्वा, विष्ठा, मूत्रादि हल्दी के समान पीले पड़जाते हैं, एवं अपरापर पित्तरोग आकर अपना अधिकार जमालेते हैं। इस के सिवाय पिपासा अधिक लगती है और सब शरीर गर्म रहता है (४)। श्लेष्मा द्वारा दूषित दुग्ध पान करने से शिशु के मुख से *निरन्तर लाल निकला करती है, अनेक प्रकार के श्लेष्मा रोग अर्थात्* कफ खांसी इत्यादि उत्पन्न होते हैं। सर्वदा निद्राभिभूत रहता है। जड़ (वाक् शक्ति और गमनशक्ति हीन) होता है, शोथ होता है, चक्षु टेढे होते हैं एवं सर्वदा वमन करता है (५)। उल्लिखित लक्षण शिशु के शरीर में प्रकाशित होने पर जानना चाहिये कि दुग्ध दूषित होगया है। इसी समय में दुग्ध की परीक्षा करके देखने से जाना जासक्ता है कि वायु पित्त और कफ मे किस के द्वारा दुग्ध दूषित हुआ है। वायु से दूषित दुग्ध कषाय रस एवं जलप्लावित (अर्थात् जल में तैरा करता है) होता है। पित्त दुष्ट दुग्ध अम्ल रस

---

(१) धात्र्यागुरुभिराहारैर्विषमैर्दोषलैस्तथा। देहदोषाः प्रकुप्यन्तितत: स्तन्यं प्रकुप्यति॥ (२) मिथ्याहारविहारिण्या दुष्टावातादय:स्त्रिय:। दूषयन्तिपयस्तेन जायन्तेव्याधय: शिशो:॥ (सुश्रुत शारीरस्थान अध्याय १०)। (३) वातदुष्टं शिशु:स्तन्यंपिबन्नीतगदातुर:। क्षामस्वर: कृशाङ्ग: स्याद्बद्धविण्मूत्रमारुत:॥ (४) स्विन्नोभिन्नमलोबाल: कामलापित्तरोगवान्। तृष्णालूरुष्णसर्वाङ्ग: पित्तदुष्टं पय: पिबन्॥ (५) श्लेष्मदुष्टं पिबन्क्षीरंलालालु:श्लेष्मरोगवान्। निद्रार्दितोजड: शून्यो वक्राक्षच्छर्दन: शिशु:॥

और जल में पीत प्रभाविशिष्ट होजाता है (१)। कफ दुष्ट दुग्ध पिच्छिल एवं जल में मग्न होजाता है। दो दोषों से दुष्ट दो चिह्नों से युक्त एवं तीन दोषों से दुष्ट तीन चिह्न युक्त होता है (२)। दुग्ध दूषित हो तो उस को शुद्ध करना परम आवश्यक है। इस लिये शास्त्र कहता है कि जननी दुग्ध शुद्धि निमित्त मूंग की दाल का जूस माता पिये एवं भारंगी, देवदारु, बच, अतीस; इन को एक में बांट कर पिये (३)। पाढर मूर्वा (चिनार) नागरमोथा, चिरायता, देवदारु, सोंठ, इन्द्रयव, अनन्तमूल, कुटकी, इन का क्वाथ पीने से दुग्ध शुद्ध होजाता है (४)। परवर, निम्ब, विजयसार, देवदारु, चिनार, गुड़ूच कुटकी और सोंठ॥

इत्यादि औषधों को जल में सिद्ध करके इन का क्वाथ दुग्ध की शुद्धि के लिये पीने की विधि शास्त्र में देखी जाती है (५)। ऐसा करने से दुग्ध शुद्ध होता है सुतरां सन्तान को भी किसी पीड़ा की सम्भावना नहीं रहती। विशुद्ध दुग्ध किस प्रकार का होता है; सो जानने के लिये ऋषिगण परीक्षा उस की बता गए हैं। जल में दुग्ध जब मिलजाय, विवर्ण न हो, एवं सूत्र (डोरे) की नाईं न हो एवं शुक्लवर्ण व अल्प शीतल हो, उसी दुगध को शुद्ध जानना (६)। अनेक समय माता के दूध कम होजाता है। उस का कारण पुत्र के प्रति वात्सल्य का अभाव, भय, शोक, क्रोध, लंघन एवं अन्य गर्भ धारण आदि जानना (७)। इसीलिये इन सब बातों से माता

(१) कषायंसलिलप्लाविस्तन्यंमारुतदूषणम्। पित्तादम्लञ्चकटुकं राज्योभसितुपीतिका:॥ (२) कफदुष्टंयत्तुतोये निमज्जतिच पिच्छिलम्। द्वन्द्वजन्तु द्विलिङ्गस्यात्त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्॥ (३) धात्रीक्षीरविशुध्यर्थं मुद्गयूषरसाशिनी। भार्गीदारुवचा: पिष्टा: पिबेत्साऽतिविषास्तथा॥ (४) पाठामूर्वाब्दभूनिम्बदारुशुण्ठीकलिङ्गकै:। सारिवामत्स्यपित्ताख्यै: क्वाथ: स्तन्यविशोधन:॥ (५) पटोलनिम्बासनदारुपाठांमूर्वां गुडूचीं कटुरोहिणीञ्च। सनागराञ्च क्वथितांश्चतोये धात्रीपिबेत्स्तन्य विशुद्धिहेतो:॥ (६) नीरेस्तन्यं यदेकीस्यादविवर्णमतन्तुमत्। पाण्डुरन्तनुशीतञ्च तद्दुग्धं शुद्धमादिशेत्॥ (७) अवात्सल्याद्भयाच्छोकात्क्रोधादप्यपतर्पणात्। स्त्रोणांस्तन्यं भवेत्स्वल्पंगर्भान्तरविधारणात्॥

को विशेष सावधान रहना उचित है। यदि दुग्ध कम होजाय तो उस के बढ़ने के वास्ते शालि, साठी के चांवल, गेहूं, मांस, कालशाक, लौकी, नारियल, कसेरू, शृङ्गारक, शतमूली, विदारीकन्द, लहसुन, इन सब वस्तुओं को स्त्रियां भक्षण करें एवं सुमनाहों। कलमधान्य की दूध में खीर बना कर जो स्त्री खाती है उस के स्तन बहुत दुग्ध से भरजाते हैं (१)। विदारीकन्द का रस, दुग्ध के बढ़ने के लिये पान किया जासक्ता है, और उस का चूर्ण भी दुग्ध के साथ पान करना विधिविहित है, (२)। कभी २ स्तन में अधिक दुग्ध उतर आता है। इस अवस्था में जुलाब कराना आवश्यक है। रुई द्वारा दोनों स्तनों को ऊंचा करके बाध रखना अथवा दुग्ध को दबा कर निकाल डालना आवश्यक है नहीं तो दुग्ध के जमजाने से स्तन पक जाने की सम्भावना है। दुग्ध कम करना आवश्यक हो तो स्तन के ऊपर मसूर की दाल बांट कर उस का लेप करने से दुग्ध सूख जायगा॥

आयुर्वेद कहता है कि शिशु को दुग्ध पान कराना हो—

तत्रमाताप्रशस्ताङ्गी चारुवस्त्रापुरोमुखी।
उपविश्यासनेसम्यक्शुचिर्दक्षिणंस्तनमम्बुना॥
प्रक्षाल्येषत्परिस्राव्यमन्त्राभ्यामभिमन्त्रितम्।
उदङ्मुखं शिशुंक्रोडे शनैराधायपाययेत्॥
अस्रावितस्तनंबाल पिबेत्स्तन्येनभूयसा।
पूर्णस्रोतावमिश्वासकासैर्भवतिपीडित॥

तो माता प्रशस्तांगी होकर, चारुवस्त्र पहन कर, पूर्वमुख बैठ कर दक्षिणस्तन को जल से धोकर एवं कुछ दूध निचोड़ के निकाल कर

(१) शालिषष्टीक गोधूमं मांसक्षुद्रस्तथामिषि। कालशाकमलाबुं च नारिकेलं कशेरुकम्॥ शृङ्गारकंवरीञ्चापिविदारींकन्दमेवच। लशुनंदुग्धवृद्धौ स्त्री पिबेतसुमनाभवेत्॥ कलमस्यतण्डुलानां कनकं या क्षीरसंस्कृतमश्नाति। साभवति प्रचुरतरक्षीरभरशैवतुङ्गकुचयुगला॥ (२) विदारीकन्दस्यरसं पिबेत् स्तन्यस्यवृद्धये। तच्चूर्णंतस्यवृद्धार्थं पिबेद्वाक्षीरसंयुतम्॥

उत्तर मुख शिशु को गोद में लेकर धीरे २ पान करावे ऐसा न करने से, दुग्ध की पूर्ण धारा के वेग से श्वास कास आदि रोग जन्मते हैं। इस से यही जाना जाता है कि दोनों स्तन ही समानरूप से पिलाना योग्य है नहीं तो एक स्तन अधिक पान कराने से अन्य स्तन में दुग्ध जमने से पीड़ा उपस्थित होसक्ती है॥

कोई २ बालक की माता दुग्ध पिलाते २ अत्यन्त दुर्बल हो पड़ती हैं, आंख में धुधला देख पड़ता है, हृदय धक धक किया करता है, मस्तक में पीड़ा होती है; तब जानना कि उसे दूध पिलाना सह्य नहीं है। उस समय उस का दूध पिलाना बन्द करदे। रात्रि को शयन अवस्था में अर्थात् लेटे लेटे शिशु को कभी दूध न पिलावे। अनेक समय माता सोजाती हैं और स्तन से शिशु का मुख रुंध जाता है और श्वास रुकने के कारण शिशु का प्राण त्याग होते देखा गया है॥

एकत्रिंश—अध्याय।

शिशुओं को दुग्ध पिलाने का नियम।

हम लोगों के देश में स्त्रियों का विश्वास यही है कि बालकगण भूखे होने ही पर रोते है। सुतरां उन की भूख के निवारण के लिये तत्क्षण दुग्ध देना उचित है। उन को यह ज्ञान नहीं है कि शिशु का रोना अनेक समय क्षुधा का परिचायक नहीं भी होसक्ता। अनेक समय पीड़ावश शिशु रोता है। एक मास पर्य्यन्त शिशुओं को दूध पिलाने का कोई नियम नहीं रहता; शिशु दो मास का हो तब दिन में तीन घण्टा का अन्तर देकर चारबार और रात्रि को तीनबार केवल दुग्ध पिलाना चाहिये। तीनमास का होजाने पर दिन को तीन घण्टा अन्तर देकर चारबार और रात्रि को दोबार, इसी नियम से रात्रि का भाग क्रमशः कम करदेना चाहिये। रात्रि

के ११ बजने के उपरान्त दूध पिलाना उचित नहीं है। यद्यपि स्तन दुग्ध कम हो या सह्य न हो अथवा माता के किसी पीड़ावश स्तन का दूध पिलाना बन्द करदेना उचित हो; ऐसा होने पर ऊपर का दूध पिलाने का बंदोबस्त करना चाहिये। स्तन दुग्ध कम होने पर एकबारगी स्तनदान बन्द न करना, स्तन का दूध और ऊपर का दूध दोनों देना कर्तव्य है। ऊपर का दुग्ध पिलाना हो तो प्रथम मास में अनुमानतः आधसेर देना चाहिये, द्वितीयमास में प्रति मास एक छटांक करके दिन रात्रि में तीनपाव से एकसेर पर्य्यन्त, तृतीयमास में आधापाव के हिसाब से दिन रात्रि मे डेढसेर पर्य्यन्त, पिलाना चाहिये। तदनन्तर प्रतिवार एकपाव के हिसाब से दिन रात्रि में दोसेर पर्य्यन्त दिया जासक्ता है। शिशुओं को निर्जल दुग्ध देना नहीं उचित है; प्रथम से द्वितीयमास पर्य्यन्त दूध में उस का दूना जल देना चाहिटे, तृतीय मास में दोनों बराबर और उस के परवर्ती महीनों में क्रमशः कममात्रा पानी की करना चाहिये। शिशु छ महीने का पूर्ण हो तब निर्जल दुग्ध दिया जासक्ता है। शिशु को प्रतिदिन जिस परिमाण से खाद्य दिया जाय, वयस एवं क्षुधावृद्धि के साथ ही साथ उस का परिवर्तन करना होता है। अति भोजन से शिशु के यकृत आदि पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। डाक्टर फ्राउलव्की के अनुसन्धान से प्रकाश हुआ है कि प्रथम दो मास काल में शिशुओं के परिपाकशक्ति बहुत ही शीघ्र २ बढजाती है, तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम मास में अति अल्प ही बढती है सुतरां इसी समय मे शिशुओं के खाद्य का परिमाण न बढाकर उस की पुष्टिकारिता बढाने की ओर दृष्टि देना कर्तव्य है। डाक्टर रच अपने समस्त जीवन की अभिज्ञता का सारांश जो लिख गये हैं वह निम्न में सन्निवेशित किया जाता है—

शिशुओं को खिलाने का साधारण नियम।

वयस।	जितने समय के अन्तर में खिलाना।	प्रत्येकबार की खुराक	२४ घण्टे की पूरी खुराक
प्रथम सप्ताह ..	२ घण्टा	१ आउन्स	१० आउन्स
एक से छ सप्ताह पर्य्यन्त।	२॥ घण्टा	१॥ से दो आउन्स	१२ से लेकर १६ आउन्स तक
छ से बारह सप्ताह एवं सम्भवत पांच मास तक	३ घण्टा	३ से ४ आउन्स	१८ से २४ आउन्स तक
षष्ठ मास में .	३ घण्टा	६ आउन्स	३६ आउन्स
दशम मास में ...	३ घण्टा	८ आउन्स	४० आउन्स

माता और शिशु की शारीरिक अवस्था देख कर दूध छुड़ाना योग्य है। साधारणत ६ महीने का होने पर उस को स्तन का दूध छुड़ादेना आवश्यक है। यदि माता दुर्बला वा रोगग्रस्ता हो तो छ मास के समय में हो दूध छुड़ाना आवश्यक होपड़ता है। यदि शिशु दुर्बल हो तो और भी कुछ अधिक काल तक स्तन पान कराना उचित है। किन्तु अधिक स्तन पान कराने पर प्रसूति का कोई उपकार न होकर वरं अपकार हो होसक्ता है यहां तक कि यक्ष्मा रोग उत्पन्न होसक्ता है॥

द्वात्रिंश—अध्याय ।

धात्रीरक्षण ।

सन्तान पालन ही माता के लिये ईश्वरप्रदत्त पवित्र व्रत है। धन्य हैं वह रमणी, जो इस पवित्र व्रत को हृदयंगम कर चुकी हैं एवं शतगुण उन से वह धन्य हैं जो इस व्रत को प्राप्त होकर अपने कर्तव्य के पालन में यत्नशील हुई हैं। स्वयं माता के प्रत्यक्ष तत्त्वावधान के सिवाय शिशुपालन नहीं होता। आलस्य वा विलासितावश अन्य के हाथ में शिशुपालन का भार देकर निश्चिन्त रहना, माता के लिये कभी उचित नहीं है। शिशुपालन के न्याय इतना गुरुतर कोई कार्य नहीं है। सुतरां इस में अवहेला करने के न्याय अपराध भी और कोई नहीं है। ये जो समस्त महिलागण सन्तान प्रसव करके यूरोपीय प्रथा के अनुसार अपने सन्तान को दुग्ध पिलाने व लालन पालन से विरत होकर उसी कार्य के लिये वेतन देकर सामान्य श्रेणी की स्त्री को धात्री के काम में नियुक्त करती हैं, उन विलासपरायणा महिलाओं को धिक् है इस प्रकार की वृत्ति में और पिकवृत्ति में कोई भेद परिलक्षित नहीं होता। पिकवधू अतर्कित भाव से वायस के झोंझ में अण्डप्रसव करके भागजाती है, वायसवधू अपने अण्ड जान कर उन को सेया करती है, फिर उन अण्डों से बच्चे निकलने पर उन को भी अपने बच्चों के संग खिलाती पिलाती और पालती है। श्रमकातरा सुखप्रयासिनी पिक वधू के न्याय यूरोप के धनी परिवार की विलासिनी स्त्रीगण भी स्वयं सन्तानों के प्रतिपालन को भार बोध करके उन शिशुओं को किसी भाड़े की स्त्री के हाथ में सौंप देती हैं। इस श्रेणी की रमणियां कदापि जननी नाम के योग्य नहीं हैं। प्रसूति के स्तन में दुग्ध उत्पन्न करना ईश्वर का भ्रम नहीं है। जिस महत् उद्देश्य से स्त्रियों के दोनों स्तन उत्पन्न हुए हैं उन की सार्थकता के सम्पादन

में विरत होने से, स्त्रीगण जननी नाम को कभी नहीं पासक्तीं। पिकद्दति माता के लिये नहीं निर्धारित है। तिस पर भारतवर्ष के दास दासीगण सभी अशिक्षित मूर्ख और स्थूलबुद्धि प्राय होते हैं। उन में हजारों में एक भी सुनीति मार्ग के सुसमाचार को नहीं प्राप्त होता है। बरन् उन में अनेकों के चरित्र दूषित, आचार व्यवहार कदर्य और अनुकरण करने के अयोग्य, भाषा असाधु, भाव अतिशय कलुषित एवं प्रकृति नीच होती है। भावीवंशधरगण के ऐसे सुकोमल प्रकृतिरूप दर्पण में यदि दासदासीगण की मलिन प्रकृति की प्रतिकृति एकबार अङ्कित होजाय तो उस का अपनयन करना कितना अधिक दुःसाध्य हो उठता है, वह हम जानते है कि अनेक पिता माता ने निज जीवन में अपनी आंखों देखा होगा। नीच संसर्गवश अनेक बालकों को अनुच्चार्य्य असाधु भाषा की गालियों की वर्षा करते देखा जाता है, रीति, नीति, कार्य्यकलाप, आदि बहुत बातें निम्नश्रेणी के कदाचारी लोगों के सदृश होजाती हैं। इसीलिये धात्री रखना हो तो अति सावधान होकर धात्री रक्खे। शिशु को कभी असती स्त्री वा दुरात्मा पुरुष की गोद में न देना। कुलटा, कदाचारिणी और कुदृष्टिपरायणा कामिनियों के पास कभी शिशु को छोड़ कर न जाना चाहिये। धात्री रखना हो तो उस के सम्बन्ध में शास्त्र की जो विधि है उसी प्रकार करने से कोई आशङ्का नहीं रहती॥

शास्त्र कहता है —

सवर्णामध्यवयसा सच्छीलांमुदितांसदा।
शुद्धदुग्धांबहुक्षीरा सवत्सामतिवत्सलाम्॥
स्वाधीनामल्पसन्तुष्टांकुलीनांसज्जनात्मजाम्।
कैतवेनपरित्यक्तां निजपुत्रदृशं शिशौ॥

समानवर्णा अर्थात् अपनी २ जाति की, मध्यवयसवाली, सुशीला, हर्षयुक्ता, सर्वदा शुद्ध दुग्धवाली, बहुत दूधवाली, सपुत्रा, अतिदयालु, स्वाधीना, स्वल्पसन्तुष्टा, कुलीना, सज्जन की कन्या, छल

रहित एवं शिशु को अपने पुत्र के समान देखने वाली; ऐसी धात्री रखना योग्य है॥

क्यों माता अपना दुग्ध निज शिशु सन्तान को दे उस का कारण हम प्रथम दिखा चुके है। इस समय यह हम कहना चाहते हैं कि हमारा विश्वास यही है कि शिशुसन्तान जिस का दुग्ध पान करते हैं उसी की धातु से शिशु का शरीर गठित होता है इसलिये गर्भ की प्रकृति गर्भ से उत्पन्न सन्तान सन्तति पाते है, इस प्रकृति से पिता की प्रकृति अर्थात् औरस (वीर्य) प्रकृति भी अल्प वा अधिक परिमाण मिश्रित होजाती है। इसीलिये लौकिक में प्रवाद है कि—

"बाप का बेटा, सिपाही का घोड़ा।
कुछ नहीं होय तो थोड़ा थोड़ा॥"

अर्थात् पिता के गुण से पुत्र भला या बुरा होता है एवं सिपाही के गुण से घोड़ा शिक्षित वा अशिक्षित होता है। यदि ठीक संपूर्ण ऐसा नहीं होता तो निश्चय कुछ २ होता ही है। यदृच्छानुसार जिस तिस के स्तन का दुग्ध शिशुओं को पिलाना अनुचित है। महाभारत में भी इस का एक उत्तम उदाहरण देखा जाता है। कथित है कि एक समय कोई ऋषिकन्या घटनाक्रम से किसी शूद्र के घर में उपस्थित हुई। ऋषिकन्या अतिशिशु थी और ऋषिपत्नी की गोद में सोई हुई थी। शिशुकन्या क्षुधित होकर रोने लगी किन्तु दुर्भाग्यक्रम से यह ऋषिपत्नी वृद्धावस्था को प्राप्त थी वह शिशु को दुग्ध न पिलासकी क्योंकि उस के स्तन में दूध ही न था। शूद्र की पत्नी युवती थी सुतरां शिशु के मुख में दुग्ध देने की इच्छा उसने प्रकारान्तर से प्रकाशित की। "प्रकारान्तर" कहने का कारण यही है कि उस समय में ब्राह्मण और शूद्र में अनेक प्रभेद था। इस समय भी है पर उतना नहीं है। प्रवृद्ध ऋषिपत्नी इस प्रस्ताव में अनिच्छा का लक्षण दिखाकर कहने लगी कि—"सात्त्विक रस में तामसिक रस मिलने से सत्त्वगुण का ह्रास होकर रजोगुण की सृष्टि होती है। सुतरां ब्राह्मण क्षत्रियरूप में परिणत होजाता है।"

यह कहकर ऋषिपत्नी शूद्रायुवती के स्तन का दुग्ध ऋषिकन्या के मुख में देने से निषेध करके वहां से दूसरे स्थान को चली गई। इस घटना का चाहे जो कोई अर्थ हो किन्तु हम यह स्पष्ट देख पाते हैं कि स्वजातीया के स्तन के दुग्ध के सिवाय अन्यजाति अथवा असत् चरित्रा, कुलटा, नीच वृत्ति धारिणी, पिशाच प्रकृति स्त्रियों के स्तन का दुग्ध भद्रगृहस्थ के शिशुसन्तानों को देना कभी उचित नहीं है। यदि शिशु को प्रकृत प्रस्ताव में मनुष्य करना हो तो माता स्वयं इस के गम्भीरदायित्व को हृदयङ्गम करके अति संयतभाव से सन्तान के पालन में मन लगावे॥

त्रयस्त्रिंश—अध्याय।

सन्तान पालन।

सन्तान भूमिष्ठ होने पर ऐसा करे जिस में उस के गात्र में किसी प्रकार का आघात न लगने पावे और उठाले। महसा उस को धमकावे व जगावे नहीं- -कौन जाने डरजाय। अकस्मात् पकड़ना नहीं, ऊपर को उछालना नहीं, कुबड़ा होने के भय से पृथ्वी पर बैठाना नहीं, सब प्रकार की ताड़ना त्याग कर प्रियव्यक्ति सब यत्नपूर्वक शिशु की सेवा करे। शिशु इस प्रकार स्वच्छन्द रहने से नीरोग एवं सुप्रसन्न मन वाला होता है। उष्ण, वायु, वृष्टि, धूलि, धूम, जल, उच्च नीच स्थान, अपवित्र स्थान; इन सब स्थानों में शिशु को कभी न रखना (१)॥

---

(१) बालंपुनर्गात्रमुखंगृह्णीयान्नचैनन्तर्जयेत्, सहसा न प्रतिबोधयेद्वित्रास भयात्सहसानापहरेदुत्क्षिपेद्वावातादिविघातभयान्नोपवेशयेत्कौब्ज्य भयात्तेनित्यंचैनमनुवर्तेतप्रियशतैरजिघांसुः। एवमनभीतमनोऽभिवर्द्धते नित्यमुदग्रसत्वसम्पन्नोनीरोगः सुप्रसन्नमनाश्चभवतिमन्न। वातातप- विद्युत्प्रभापादपलताशून्यागारनिम्नस्थानगृहच्छायादिभ्यो...... बालं रक्षेत्॥ (सुश्रुत शारीरस्थान १० अ०)।

शिशु को सर्वदा शीत से रक्षा करना। इसीलिये शिशु को सर्वदा गर्म कपड़ों से ढंका रखना योग्य है। शरीर की उपयुक्तरूप उष्णता की रक्षा कर सकने पर पीड़ा की बहुत एक कुछ सम्भावना नहीं रहती। स्वाभाविक उष्णता का ह्रास होने पर शरीर में क्लेश और रोग होते हैं। हम लोगों का परिच्छद कितने एक परिमाण में आहार का कार्य्य करता है क्योंकि वस्त्र जितना देह की उष्णता के ह्रास को निवारण करेगा उतना ही उष्णता-उत्पादक द्रव्य के आहार का प्रयोजन भी अल्प होजायगा। इसीलिये सकल ऋतुओं में शरीर वस्त्र द्वारा आवृत रखना उचित है। किसी ऋतु मे शरीर को एक बार अनावृत रखना कर्तव्य नहीं है। तदनन्तर शिशुओं के आहार के ऊपर माता को विशेष दृष्टि रखना आवश्यक है। माता को पथ्यापथ्य का ज्ञान न होने से सन्तान को पीड़ा अवश्यम्भावी विषय है। शास्त्र कहता है "नतुपथ्यविहीनानांभेषजानांशतैरपि"। पथ्यविहीन मनुष्यों का उपकार सौ औषध भी नहीं कर सक्ती—यह बात बहुत ठीक है। एक तो डाक्टर वैद्य बुलाते २ हाड़मांस जलने लगते है, तिस पर और कुमाता के कुपथ्य देने के दोष से संपूर्ण औषध विफल होजाती है, डाक्टर बुलाने का अन्त नहीं, औषध लाने का अन्त नही। अन्त में अधिक औषध सेवन के दोष से शरीर जर्जर होजाता है, एक व्याधि से अन्य व्याधि का समागम होता है; गृहस्थ को इस से आराम विश्राम कदापि नहीं मिलता। जिस परिवार में पथ्यापथ्य का ज्ञान नहीं है, उस परिवार के सन्तानगण दीर्घकाल व्यापी स्वास्थ्य का मुख देखेंगे—यह सर्वथा असम्भव है। लघुआहार वा गुरुआहार, दोनों ही दोषावह हैं। किन्तु दोनो में लघुआहार का दोष अधिक है, शरीरतत्त्व विशारद किसी प्रधान पण्डित ने कहा है कि—"कभी २ गुरुतर आहार खाने से जो अपकार देख पड़ता है उस का सहज में संशोध किया जासक्ता किन्तु अल्पाहार से जो अपचय होता है उस का प्रति विधान करना उतना सहज नहीं है।"*

*Cyclopædia of Practical Medicine.

और यह भी देखा जाता है कि अधिक आहार करना शिशुओं की प्रकृति से सिद्ध नहीं है। बल प्रयोग न करने से उन को कदापि अतिमात्रा से आहार नहीं कराया जासकता। वयस्क व्यक्ति ही साधारणतः अमिताचारी होते हैं, अर्धवयस्क व्यक्तियों में अमिताचार दोष बहुत नहीं देख पाया जाता है। शिशुकाल में बालकों में एक प्रकार की अशान्त चञ्चलता देखी जाती है। यह उन के शरीर के सबल और दृढ होने का एक उत्तम उपाय है। किन्तु आक्षेप यही है कि जो शिशु लम्फन, धावन, कूर्दन एवं कोई वस्तु पर आरोहण करने की चेष्टा, सर्वदा किया करता है उस को दुष्ट कह कर तिरस्कार किया जाता है। पिता माता उस का कुअभ्यास दूर करने का यत्न किया करते हैं। उस को अनेक प्रकार शासन करके उस की *अशान्तता दूर कीजाती है। किन्तु शिशु सन्तानों को* इस प्रकार शान्त करने की चेष्टा करना अत्यन्त अनिष्टकर है। इस के द्वारा उन की स्वाभाविक स्फूर्त्ति विनष्ट होती है। "उपयुक्तरूप से अङ्ग संचालन" के अभाव से शरीर दुर्बल और रोगी होपड़ता है। कङ्कालावशेष शिशु सन्तानगण को देख कर किस के नहीं दया का उद्रेक होता है। पिता माता सन्तान की शारीरिक दुर्गति देख कर मन में क्लेश पाते हैं, उन की शुश्रूषा में अपने शरीर तक को खपाय देते हैं। किन्तु एक बार भी विचार कर नहीं देखते कि उन्हीं की अविवेचना से यह विषम फल उत्पन्न होता है। शैशवकाल में शिशुओं के द्वारा अधिक मानसिक परिश्रम कराना भी एक ठौर महाअनर्थ का हेतु कहना होगा। शैशवकाल में अतिशय मानसिक परिश्रम कराने से मस्तिष्क में अधिक रक्त नीत होता है, सुतरां अन्यान्य अंश में जितना रक्त संचालित होता, उस की मात्रा घट जाती है। इसी कारण से शरीर की उपयुक्तरूप वृद्धि का व्याघात होता है। शैशवावस्था में जब शरीर द्रुतगतिपूर्वक वृद्धि को प्राप्त होता है, उस समय इस प्रकार के विघ्न का उपस्थित होना अतिशय अनिष्टकर है। शिशु के शरीर में जबतक सब अंश पूर्णता को नहीं

प्राप्त होते, उतने दिन तक उस को गुरुतर मानसिक परिश्रम कराना कभी विधेय नहीं होसक्ता। किन्तु यह कहने से, शिशु सन्तानगण के मानसिक विकास के लिये कोई चेष्टा न करना—यह बात हम नहीं कहते। शिशुचरित्र का गठन करना अति साध्यायत्त है। इसीलिये जिस शुभक्षण से शिशु के चक्षु कर्ण नासिकादि इन्द्रियगण कार्य्यक्षेत्र मे अवतरण करें अथवा बाह्य जगत् जिस क्षण से शिशु की लीला भूमि होउठे, उसी समय से परम यत्न की सामग्री शिशु को सुसंगठित करने के लिये पिता माता को काय मनो वाक्य से यत्न करना चाहिये। जिस प्रकार शरीर की पुष्टि, आयु की वृद्धि, हृदय की प्रशस्तता, मन में उच्चभाव का विकाश, मस्तिष्क के गम्भीर चिन्ता शीलतादि गुणों का यथोचित उत्कर्ष साधन होसके, वैसी आहारीय वस्तु, वैसी ही घ्राण की सामग्री, वैसा ही श्रोतव्य विषय, द्रष्टव्य पदार्थ एवं लेपनादि स्पर्शनीयद्रव्य, उस के सन्मुख उपस्थित करना कर्तव्य है। इसी प्रकृति स्फुरण के अंकुरकाल से ही अत्यन्त सावधान चित्त से शिशु की शुश्रूषा करना योग्य है। सद्व्यवहार मे कुछ भी न्यूनता और त्रुटि होने से शिशु की प्रकृति, विकृति और अति कदर्य्य दशाग्रस्त होकर काल के अनुसार वह जनक जननी के विविध दुःखों का प्रधान हेतु और समाज के आवर्जना तुल्य होउठता है॥

माता के निकट बालक की सर्व प्रथम शिक्षा होती है। शैशव में सन्तान के कोमल हृदय मे जननी जो अङ्कित करदेती है, चिर जीवन पर्यन्त उस का चिह्न बना रहता है। सन्तान का चरित्रगठन करने मे माता के न्याय विचक्षण पृथ्वी में कोई नहीं है। वह इच्छा करें तो सन्तान के चरित्र को देवतुल्य करसक्ती है। सम्राट् से लेकर क्षुद्रतर कृषक पर्य्यन्त माता के शासनाधीन होते हैं। कोई किसी दिन माता के विशाल राज्य में शासित न होकर पृथ्वी में निज २ पद लाभ करने मे सूक्ष्म नहीं हुआ। इस स्थान में जो जिस प्रकार से अनुशासित हुए हैं वह उसी प्रकार की रीति, नीति और चरित्र

लेकर पृथ्वी के विस्तृत कार्य्यक्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं। शैशव, भावी जीवन का बीज है, जिस के शासन की आधीनता में वही बीज भिन्न भिन्न गठन को प्राप्त होता है, पृथ्वी में उस का सर्व प्रधान कार्य्य एवं उस का दायित्व सब की अपेक्षा गुरुतर है। इसीलिये कितना सावधान होकर माता को चलना उचित है। जैसे बालक के शरीर के स्वस्थ और अस्वस्थ रहने के लिये माता दायी है वैसे ही उस के मन के भले और बुरे होने के लिये भी वही दायी है। शिशु के सम्मुख किसी को एक गाली देने पर वह उसी क्षण उस को सीख लेगा। केवल एक दिन के लिये नहीं, किन्तु चिर दिन के लिये। माता की थोड़ीसी अविवेचना के कारण सन्तान के मन का कितना भला भाव चिर दिन के लिये विनष्ट होजाता है। किन्तु दुःख का विषय यही है कि सन्तानगण को हृष्ट, पुष्ट शरीर, सुसज्जित और विश्वविद्यालय का उपाधिधारी करने के लिये पिता माता को जितना यत्न करते देखा जाता है; उतना उन को सच्चरित्र, निर्मल प्रकृति और सदाशय करने के लिये चेष्टा करते बहुत कम देख पड़ते हैं। वर्तमान भारतीय जनक जननीगण भावी सामाजिक विप्लव के सोपान की रचना करने का आरम्भ कर रहे हैं। नीति शिक्षा के प्रचुर परिमाण से साधारण समाज में प्रचलित होने से वृथा कलह, विवाद, विसंवाद, असभ्यता, मूर्खता, धृष्टता, कपटता, प्रवञ्चनादि समाज से विलुप्त होजाते हैं। विचारालय में इतने मिथ्या अभियोग और उन में इतना अयथा अर्थव्यय भी न हो। दुर्बल पर अत्याचार, वेश्या-सदनगमन, मद्यादि सेवन जन्य महापाप और समाज में दारिद्र्य दुःख की वृद्धि नहीं होती। सामान्य प्रभुत्व के मिलने के लिये नर शोणित से समरांगण प्लावित भी नहीं होता। अधिक क्या कहैं, समाज निपट निरुपद्रव होजाता है। नीति शिक्षा द्वारा शारीरिक, मानसिक और अध्यात्मिक उन्नति का लाभ किया जासक्ता है। पारिवारिक, सामाजिक, ऐहलौकिक और पारलौकिक समस्त सुखस्वच्छन्दताही सुनीति शिक्षा के ऊपर निर्भर है। प्रातःस्मरणीय

आर्य्यगण के प्रभुत्व और प्रतिपत्ति के समय में वर्णानुसार धर्मनीति, राजनीति, समाजनीति, और विविध साधारणनीति की शिक्षा पाकर भारतवासीगण ने तपोबल, धर्मबल, विद्याबल, बाहुबल, चित्तबल आदि के गुण से जातीय प्रकृति को पाकर इस पवित्रभूमि को सभ्यसमाज का शिरोभूषण कर दिया था। इस समय विद्यालय की शिक्षा प्रणाली के दोष से और पिता माता आदि गुरुजन के तत्त्वावधान और यत्न के अभाव से सुकुमारमति बालकगण स्वेच्छाचार के वशवर्त्ती होकर समाज को कलङ्कित और विषम उपद्रव ग्रस्त कर रहे हैं। पिता माता सन्तान के शैशव से ही यदि नीति शिक्षा की ओर मनोयोगी करें तो वह भी और सन्तानगण चिर सुखी होसके हैं और समाज भी निरुपद्रव होजाय॥

चतुस्त्रिंश—अध्याय।

मानव प्रकृति।

गर्भाधानतत्त्व में हम कह आये हैं कि जीव की उन्नति के पक्ष में, एकमात्र श्रेय के पक्ष में गर्भाधान ही प्रधान संस्कार है। अतएव पुत्र कामना हो तो पिता माता को प्रथम पवित्र, उन्नत और शोभन होना चाहिये तब सन्तान में भी यह सब सुन्दर गुण होंगे। हिन्दुओं का विश्वास है कि रेत को आश्रय करके पिता माता की शारीरिक और मानसिक वृत्तियां सन्तान सन्तति में प्राप्त होती हैं, यहां तक कि उन के पाप पुण्यरूप कर्मों के फल भी सन्तान सन्ततिगण को भोग करना होते हैं। अमिताहारी, मद्यपायी, घोर इन्द्रियासक्त और कुप्रवृत्तिशाली जो व्यक्ति अपने कार्य के दोष से जीवनीशक्ति और मानसिकबल दोनों नष्ट करचुका है, उस के सन्तान सचराचर में उन्हीं २ अवगुणों से युक्त होंगे एवं पितृ कार्य्य और अपने कार्य्य के दोष से अचिरात् मानवलीला संवरण करेंगे अथवा पीड़ायस्त

या अन्यरूप से विपन्न होंगे—इस में कुछ सन्देह नहीं है। चोर का पुत्र कदाचित् साधु हो—ऐसी धारणा हिन्दुओं की विश्वासभूमि से सुदूरपराहत है। हिन्दू जानते हैं कि पुत्र पिता की शारीरिक और मानसिक सत्ता के प्रति अंश से उत्पन्न होता है, सुतरां वह पिता की आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं है (१)। अतएव वह जैसे जनक की शारीरिक और मानसिक वृत्ति का उत्तराधिकारी है वैसे ही पिता के सुकृत और दुष्कृत का फल भागी है। बौद्ध धर्मावलम्बी लोगों की भी धारणा ठीक ऐसी ही है (२)। पुत्र पिता की आत्मा है इसीलिये उस का अन्य एक नाम आत्मज है। यूरोपियन् पण्डित शिरोमणि प्लूटार्क का मत यही है कि उत्पन्न जीव, उत्पन्न करने वाले (पिता) की ही सत्ता है, सुतरां दोनों की धातु का अभेद निबन्धन पिता के कर्म जनित पाप पुण्य, पुत्र का आश्रय करके उस (पुत्र) को तत्फलभागी करते है (3) क्योंकि उन दोनों मे ऐसी एक प्रच्छन्नसत्ता विद्यमान है जो उत्पन्न जीव को जनक के कर्मफल के अनुगत अवश्यमेव करेगी (4)। पिता माता की दैहिक गठन सन्तान में होती है—सो हम अनेक समय प्रत्यक्ष देखते हैं। श्वास, कास,

---

(१) अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि सञ्जीव शरदःशतम्। (सामवेद)। (२) The Buddhists believe as well as the modern Philosophers that each generation is the heir to the consequences of the virtues and sins of the preceding generation (3) That which is engendered is made of the very substance of the generating being so that he bears in him something which is very justly punished or recompensed for him, for this something is he —Plutarch (as quoted in "The Criminal" by Havelock Ellis, page 91.)

(4) There is between the generating being and the generated a sort of hidden identity, capable of justly committing the second to all the consequeces of an action committed by the first —Plutarch (as quoted by Havelock Ellis, *vide* page 91 of "The Criminal.")

कुष्ठ, मृगीरोग, उन्मादरोग के सम्बन्ध में यही नियम अलङ्घनीय है—सो विदित होता है कि किसी को अविदित न होगा। प्राय चिरस्थायी रोगमात्र ही बीजानुगामी होते हैं। अस्थिका रोग, मांस का रोग, नेत्ररोग, पाकस्थली का रोग, वायुस्थली का रोग; चाहे जिस अङ्ग का रोग हो, चिरस्थायी होने पर वह अवश्य प्रायः सन्तान में होता है। इन में नेत्र का रोग विशेष करके बीजानुवर्त्ती होता है। दूरदृष्टि, निकटदृष्टि, वक्रदृष्टि, यह सब यदि पिता में हैं तो पुत्र में अवश्य कियत्परिमाण होती ही है। रात्र्यन्ध, दिवान्ध और वर्णान्ध के सम्बन्ध में भी यही नियम है। केवल इतने ही से शेष हो सो नहीं—पिता का अभ्यास, शिक्षा, प्रकृति एवं प्रवृत्ति का भी उत्तराधिकारी सन्तान है। हम एक २ करके इन के उदाहरण, जो पाश्चात्य पण्डितगणों के भूयोदर्शन से प्रतिपन्न हुए हैं उन का उल्लेख करते है। पिता के न्याय सन्तान के हस्ताक्षर होना जो कैसे अभ्यास का कार्य है सो सभी जानते हैं। किन्तु जिस स्थल पर सन्तान पिता के निकट शिक्षित ही नहीं हुआ उस स्थल पर पिता के न्याय पुत्र के अनुरूप हस्ताक्षर देख कर हम को स्वीकार करना पड़ता है कि पितृ अभ्यास भी न्यूनाधिक परिमाण से बीजानुगामी होता है। महापण्डित डार्विन साहब कहते हैं कि उन्होंने अनेक स्थानों पर अनेक पिता पुत्रों के एक ही प्रकार के हस्ताक्षर देखे हैं। इस में विस्मय का कारण यही है कि सन्तान ने पिता के हस्ताक्षर कभी देखे नहीं। इस प्रकार के अभूत पूर्व व्यापार के उदाहरण अवश्यमेव अति विरल मिलेंगे, किन्तु तथापि यह बात मानव दृष्टि से छिपी नहीं है कि पैतृकलिपिसादृश्य अवश्य सन्तान में होता है। हफ़ेकार कहते है कि अङ्गरेजों के सन्तानगण फरासी देश में लिखना सीखने पर भी पैतृक लिखन प्रणाली का ही अनुगमन करते है (1)।

---

(1) On what curious combination of corporeal structure mental character and training, hand-writing depends ' Yet every one must have noted the occasional close similarity of the hand-

अभ्यास के सम्बन्ध में डार्विन साहबने और भी एक तत्त्व हम लोगों के नयनपथ का पथिक किया है। वह कहते हैं कि एक व्यक्ति अभ्यासवशतः वाम ऊरू के ऊपर दक्षिण पद रख कर शयन करता था, उस की कन्या भी अति शैशव अवस्था में पिता के अभ्यास को प्राप्त हुई। जब कन्या के हृदय में प्रथम ज्ञान का उन्मेष हो नहीं हुआ था तब यह पिता का अभ्यास उसे किसने सिखाया? इस का एकमात्र उत्तर यही होसक्ता है कि बीजानुगामी पैतृक प्रकृतिने (1)। यह तो हुई अभ्यास की बात। शिक्षा के सम्बन्ध में भी यही नियम है। इस के प्रमाण के स्थान पर हम एक कुत्ते की कथा कहते हैं— जिस से यही प्रतिपन्न होता है कि शिक्षा आदि भी रेत के द्वारा सन्तान में प्राप्त होता है। कुक्कुर को अनेक विषय में शिक्षा देते, बोध होता है अनेकों ने देखा होगा। कोई कुत्ते को मृगया (शिकार) करना सिखाते हैं और कोई अपनी रुचि के अनुसार अनेक शिक्षा उस को देते हैं। पण्डित हर्बर्टस्पेन्सर कहते हैं कि एकबार एक कुतिया को भीख मांगना सिखाया गया, जब वह कुछ लेने की इच्छा करती तब उस को शिक्षितमतभिक्षा बिना किये कुछ न

---

writing in father and son, although the father had not taught his son A great collector of autographs assured me that in his collection there were several signatures of father and son hardly distinguishable except by their dates Hofacker in Germany remarks on the inheritance of hand-writing, and it has even been asserted that English boys when taught to write in France naturally cling to their English manner of writing * * * (Darwin on the Variation of Animals, &c, Vol 1, 449)

(1) Several instances could be given of the inheritance of peculiar manners, as in the case, often quoted, of the father who generally slept on his back with his right leg crossed over the left, and whose daughter, whilst an infant in the cradle followed exactly the same habit though an attempt was made to cure her (Darwin's Variation of Animals, Vol. 1, 459)

मिलता। कुतिया के कईएक बच्चे हुए, उन में एक डेढ महीना की अवस्था के समय में उस को माता के पास से हटा कर एक स्वतन्त्र स्थान में रक्खा गया। अनन्तर वह बच्चा सात या आठ महीने की अवस्था में माता के न्यायभिक्षा करना सीखगया (१)। बच्चे को यह ज्ञान मातृशिक्षाजनित एवं मातृबीज से प्राप्त था। यह जो दो ठौर परिचय दिये गये, इन के द्वारा हमलोगों की एक प्राचीन प्रथा का हेतु निर्देश किया जासक्ता है। हम लोगों की यही प्रथा थी कि किसी जीविका का अवलम्बन करना होता तो युवागण पैतृक उपजीविका का अवलम्बन करते; पैतृक व्यवसाय के सिवाय और व्यवसाय न ग्रहण करते, एवं समाज भी नहीं ग्रहण करने देती। क्योंकि पितृव्यवसाय की अतिसहज में शिक्षा होती है। समाज ने दो कारण से यह नियम बांधा था, प्रथम बैजिक कारण, द्वितीय सांसर्गिक कारण रेत द्वारा पिता का गुण सन्तान में आश्रित होता है और संसर्ग के गुण से विकाश को प्राप्त होता है। प्रकृति व प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भी यह नियम अलङ्घनीय है। जिस की प्रकृति कोपन है, उस के सन्तान में भी इस प्रकृत्ति का विकाश देखा जाता है। हमारे श्रद्धेय बन्धु पण्डित यदुनन्दन को हम अत्यन्त क्रोधी पुरुष जानते हैं। एक दिन कौतूहल परवश होकर हमने उन से पूछा कि पण्डितजी! आप इतने क्रोधी क्यों हैं? उत्तर में उन्होंने कहा कि उन के पिता की भी प्रकृति ऐसी ही थी। जो अस्थिमज्जा में जड़ित है वह अपरिहार्य्य है। पण्डितजी से वार्तालाप करने से हमने जाना कि वह भृगुवंशोद्भव है। परशुरामजी की कैसी कोपन प्रकृति थी,

(1) Mr. Lewes had a puppy taken from its mother at six weeks old, who, although never taught 'to beg,' (an accomplishment his mother had been taught), spontaneously took to begging everything he wanted when about 7 or 8 months old, he would beg for food, beg to be let out of the room, and one day was found at a rabbit hatch begging for rabbits" (Herbert Spencer on the Principles of Biology)

सो सभी जानते हैं, सुतरां उन के वंशज जो अनुरूप प्रकृतिशाली हों तो इस में क्या विचित्र है ? इस समय प्रवृत्ति के सम्बन्ध में समालोचना की जाय। चोर का पुत्र चोर होता है—यह चिरप्रथित वार्ता है। अच्छी या बुरी प्रवृत्ति वंश परम्परा में व्याप्त होजाती है। अमेरिका का जानसन और जिउक वंश इस का ज्वलन्त दृष्टान्त है। जानसन वंश में देखा गया कि पितामह एक प्रसिद्ध जाली रुपया बनाने वाले थे। उन के परवर्ती पुरुषगण पुलिस की प्रखर दृष्टि को रोक न सके। तृतीय पुरुष (पीढ़ी) में सातठौर भाई बहनों में वही वंशगत कुप्रवृत्ति की पराकाष्ठा देखी गई (1)। द्वितीयत अमेरिका का जिउक वंश। यह वंश बदमाशदलभुक्त था। इस वंश की पांच बहनों से लेकर पांच पुरुष पर्य्यन्त जो सब पुत्र कन्या उत्पन्न हुए उन की संख्या ७०९, वस्तुत विचारने पर १२०० थी। इस प्रकाण्ड परिवार में भले लोग अति सामान्य थे। यहां तक वंशभर चोर डाकू और वेश्या। इस वंश में जितने पुरुष उत्पन्न हुए उन में २० जन भी सत्कर्मरत नहीं हुए एवं इन बीस में भी १० जन कारागार में कर्म सीखते भये। * * * षष्ठ पुरुष पर्य्यन्त विवाहोपयोगी कन्यागण में व्यभिचारी की संख्या शतकरा ५२ जन थी। इस की अपेक्षा बैजिक प्रकृति का प्रभाव और क्या होसका है (2) ? पिता का कार्य्य

---

(1) Sometimes the criminal tradition is carried on through many generations and with great skill, a kind of professional caste being formed. The Johnson family of counterfeiters in America is an example of this. The grandfather was a famous counterfeiter in his day, the next generation were well known to the police, in the third generation criminal audacity and skill appear to have reached a very high degree in seven brothers and sisters, one of them, especially being considered one of the most expert counterfeiters of the day, he has spent a large part of his life in various prisons. (The "Criminal" by Havelock Ellis, Page 100.)

(2) The so-called "Jukes" family of America is the largest criminal family known and its history which has been carefully

कलाप भी सन्तान में आते देखा जाता है। महापण्डित एरिस्टल (Aristotle) ने ऐसे एकठौर मनुष्य की कथा का उल्लेख किया है जिस के द्वारा "पिता का कार्य्यकलाप भी बीजानुसारी है" यह मानना पड़ेगा। वह कहते हैं कि एक मनुष्य के एक सन्तान था, जब बालक पिता के केश पकड़कर उस के घर के द्वारदेशपर्य्यन्त घसीटकर लाया, तब उस के पिताने चीत्कार करके कहा—बेटा! बस, मैं भी अपने पिता को यहीं तक घसीट कर लाया था (1)। जब देखा जाता है कि पिता के शरीर का गठन सौसादृश्य, मानसिक वृत्ति, यहां तक कि अभ्यास, प्रकृति, प्रवृत्ति एवं कार्य्यकलाप बीजानुसारी होकर सन्तान में प्रविष्ट होते हैं तब "सन्तान पितृ प्रकृति का उत्तराधिकारी है" यह अवश्य हम को मानना ही पड़ेगा। इस के सिवाय जीवगण पूर्व जन्मार्जित पाप पुण्य के अनुसार

studied is full of instruction * * * Two of his sons married two out of five or less illegitimate sisters, these sisters were the "Jukes" The descendants of these five sisters have been traced with varying completeness through five subsequent generations. The number of individuals thus traced reaches 709, the real aggregate is probably 1200. This vast family, while it has included a certain proportion of honest workers, has been on the whole a family of criminals and prostitutes, of vagabonds and paupers Of all the men not twenty were skilled workmen, and ten of these learnt their trade in prison, 180 received outdoor relief to the extent of an aggregate of 800 years, or making allowances for the omissions in the record 2300 years * * * The average prostitution among the marriageable women down to the sixth generation was 52 40 per cent There is no more instructive study in criminal heredity than that of the Jukes family. (The Criminal by Havelock Ellis, page 102)

(1) We know also the story in Aristotle of the man who when his son dragged him by his hair to the door, exclaimed—"enough, enough, my son, I did not drag my father beyond this" (The Criminal by Havelock Ellis, Page 91.)

सात्त्विक, राजसिक और तामसी, इन तीनों गुणों के तारतम्यानुयायी मातृगर्भ में देहगठन के समय जो प्रकृति प्राप्त होती है वह भी उन की एक प्रकार की प्रकृति कहना होगी। जीवगण यही दो प्रकार की प्रकृति वा स्वभाव का आश्रय करके इस लोक में अवतीर्ण होते हैं। इस के सिवाय यह जीवन के अभ्यासबल से वह और एकठौर तृतीय प्रकृति को प्राप्त होते हैं। जो स्वभाव है मनुष्य का वह अपरिहार्य है। अभ्यास लब्ध जो प्रकृति है वह स्वभाव पदवाच्य न होने पर भी उसी बोधार्थ अनेक लोक स्वभाव के साथ एकार्थ करके कहते रहते हैं। वस्तुतः बाह्य हेतु के अनधीन जो संस्कार (अर्थात् जो जीव का अकृत्रिमभाव) है वही स्वभाव पदवाच्य है। और जो जीव को चिराभ्यास लब्ध है अर्थात् जो कृत्रिमभाव है वही अभ्यास वा निसर्ग है (१)। जो स्वभाव है वह नस २ में रक्त कणिका के साथ अभिन्नभाव से अवस्थिति करता है, उस का परिवर्तन नहीं है। जितने दिन यह जीवन रहेगा उतने दिन किस का साध्य है जो उस का परिवर्तन करे। जो इहकालज है वह इहजीवन के कारण द्वारा उत्पादित होसक्ता है। किन्तु पूर्व जन्म के संस्कार का फलरूप जो प्रकृति, पिता माता के शुक्र शोणित के साथ हमारे जीवन का आश्रय लेती है उस का विनाश असम्भव है। यही मानव का प्रकृत स्वभाव है। इसीलिये दर्पणकार ने इस का "अजन्य" करके उल्लेख किया है। पूर्व देह के कर्मानुसार मनुष्य का स्वभाव संगठित होता है—यह हिन्दू शास्त्र का सुन्दर विचार है। जिस का कर्म है उसी को फल भोगना होगा, चाहे इस जन्म में अथवा अन्य जन्मों में। ब्रह्मवैवर्त पुराण में है—

वचनेषु च बुद्धौ च स्वभावे च चरित्रत.।
आचारे व्यवहारे च ज्ञायते हृदयं नृणाम्॥

---

(१) बहिर्हेत्वनपेक्षीतुस्वभावोऽथ प्रकीर्तितः। निसर्गश्चस्वभावश्च इत्येषभवति द्विधा॥ निसर्गः सुदृढाभ्यासजन्यः संस्कारउच्यते। अजन्यस्तु स्वतः सिद्धः स्वरूपोभाव उच्यते॥ (उज्ज्वलदर्पणकार)।